सम्पादक
नन्दकिशोर नवल

निराला रचनावली

मूल्य
प्रति खण्ड रु० 75 00
सम्पूर्ण सैट रु० 600 00

सस्करण
प्रथम
बसन्त पचमी
19 जनवरी 1983

प्रकाशक
राजकमल प्रकाशन प्रा लि
8 नेताजी सुभाष मार्ग,
नयी दिल्ली - 110 002

मुद्रक
रुचिका प्रिन्टर्स
नवीन शाहदरा
दिल्ली - 110 032

आवरण तथा
प्रारम्भिक पृष्ठ
प्रभात आफसेट प्रेस,
दरियागज, नयी दिल्ली

कला-पक्ष
आवरण के लिए
निराला का रेखाकन
हरिपाल त्यागी

कला - सयोजना
चाँद चौधरी

NIRALA
RACHANAVALI
Collected Works of
Suryakant Tripathi 'Nirala'

I

22 फरवरी 1936
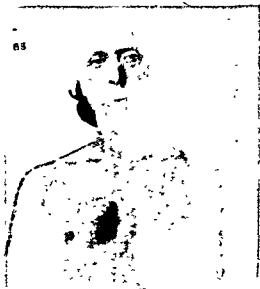
आत्मज रामकृष्ण त्रिपाठी
के साथ

दो शब्द

मेरी बहुत दिनों से इच्छा थी कि पिताजी की सभी कृतियाँ ग्रन्थावली के रूप में छपें। *लगभग आठ-नौ वर्ष पहले एक प्रयास हुआ था, लेकिन ग्रन्थावली के लिए* मेरी जो कल्पना थी वह पूरी नहीं हो सकी; तथापि उस ग्रन्थावली के तीन खण्ड ही प्रकाशित हुए और अनेकानेक बाधाओं के चलते वह कार्य अधूरा रह गया। आज आठ खण्डों में निराला रचनावली का प्रकाशन व्यक्तिगत रूप से मेरे लिए तो प्रसन्नता की बात है ही, सम्पूर्ण हिन्दी-जगत के लिए यह एक महत्त्वपूर्ण घटना है। पिताजी की अनेक रचनाएँ अभी तक पुस्तक-रूप में प्रकाशित नहीं थीं, और अनेक रचनाएँ पुस्तक-रूप में प्रकाशित होकर भी सुलभ नहीं थीं। अत: आठ खण्डों में प्रकाशित इस रचनावली का विशेष महत्त्व है, जिसमें पिताजी की प्रकाशित-अप्रकाशित सभी रचनाएँ, सम्पादकीय टिप्पणियाँ और अनेक महत्त्वपूर्ण पत्र संकलित हैं। मेरा चिर-संचित स्वप्न अब साकार हुआ, और विश्वास है कि हिन्दी-जगत में इस रचनावली का समुचित स्वागत होगा।

राजकमल प्रकाशन की प्रबन्ध-निदेशिका श्रीमती शीला सन्धू ने पिछले चार सालों में पिताजी की चौदह पुस्तकें *नवीन साज-सज्जा के साथ पुनर्मुद्रित करके* जिस लगन और निराला-साहित्य के प्रति अपनी आस्था का परिचय दिया था वह निराला रचनावली के रूप में मूर्त हुई है। बहुत-सी कठिनाइयों, और विघ्न-बाधाओं के बावजूद जिस धैर्य और लगन के साथ इसके प्रकाशन का साहस किया गया है वह भी अपने आपमें अभूतपूर्व घटना है। बहुत कम समय में, व्यवहारत: दो महीने की अवधि में ही, इस रचनावली का मुद्रण-प्रकाशन हुआ, और वह भी इतने भव्य और सुरुचिपूर्ण ढंग से, इसके लिए श्रीमती सन्धू के साथ उनके वे सारे सहकर्मी बधाई के पात्र हैं जिन्होंने दिन-रात परिश्रम करके इस कार्य को समय से पूरा किया। डॉ. नन्दकिशोर नवल की सम्पादकीय सूझ-बूझ ने रचनावली के संयोजन को वैज्ञानिक आधार दिया।

अन्त में मैं उन सभी साहित्यिकों, निरालाजी के प्रेमियों के प्रति अपना आभार व्यक्त करता हूँ जिनका सहयोग और सद्भाव, परोक्ष या अपरोक्ष रूप में मुझे और प्रकाशन संस्था को मिलता रहा है।

ज्ञप्ति

श्रेष्ठ साहित्यकारों के समग्र कृतित्व का एकत्र प्रकाशन कई दृष्टियों से उपयोगी होता है। उससे अध्ययन में तो सुविधा होती ही है, मूल्यांकन में भी सुविधा होती है। हिन्दी की प्रगतिशील आलोचना ने यह स्थापित किया है कि निराला हिन्दी के महान् प्रगतिशील साहित्यकारों की परम्परा की अन्यतम कड़ी थे। प्रस्तुत रचनावली से इस मूल्यांकन को एक सुदृढ़ आधार प्राप्त होता है।

निराला कवि तो थे ही, वे कथाकार और आलोचक भी थे। उन्होंने अनेकानेक साहित्येतर विषयों पर ढेर सारे निबन्ध और टिप्पणियाँ भी लिखी हैं। वे करीब छः वर्षों तक लखनऊ से प्रकाशित होनेवाली पत्रिका 'सुधा' के सम्पादकीय विभाग से सम्बद्ध रहे। उस दौर में उन्हें साहित्य से हटकर दूसरे विषयों पर सम्पादकीय टिप्पणियाँ लिखने का विशेष अवसर मिला। उन्होंने बच्चों और साधारण पाठकों के लिए भी पर्याप्त साहित्य रचा है। इसके अलावा वे बहुत अच्छे पत्र-लेखक भी थे। उनके इस समग्र कृतित्व को, जिसका एक अंश अब तक दुर्लभ और असंकलित था, रचनावली मे प्रस्तुत करना एक समस्या थी। इसके समाधान के लिए निराला-साहित्य को पहले विधाओ मे विभाजित किया गया है, यथा कविता, कथा-साहित्य, आलोचना, निबन्ध और टिप्पणियाँ, जीवनी, पुरा-कथा और पत्र, और फिर प्रत्येक विधा की रचनाओं को रचना-क्रम से सजाने का प्रयास किया गया है। कविता और कथा-साहित्य के दो-दो खण्ड हुए हैं। कथा-साहित्य के पहले खण्ड में केवल उपन्यास हैं और दूसरे खण्ड में उपन्यासों के साथ कहानियाँ भी। निराला की आलोचना एक खण्ड में आ गयी है। उसके बाद के यानी छठे खण्ड में विभिन्न विषयों से सम्बन्धित उनके निबन्ध और टिप्पणियाँ संकलित हुई हैं। इस खण्ड में छोटी-बड़ी पुस्तक-समीक्षाएँ भी हैं। सातवें खण्ड में मुख्य रूप से वे जीवनियाँ हैं, जो निराला ने बच्चों के लिए लिखी थीं। आठवें खण्ड मे उनके द्वारा लिखी गयी पुराकथाएँ और पत्र हैं। रचना-क्रम से रचनाओं को सजाने से यह लाभ हुआ है कि निराला का साहित्य एक सजीव और गतिशील वस्तु के रूप मे सामने आया है। उससे उनके व्यक्तित्व और प्रतिभा का विकासमान रूप प्रत्यक्ष हुआ है।

निराला-सम्बन्धी शोध-प्रबन्धों, आलोचना-पुस्तकों और पत्र-पत्रिकाओं में निराला-साहित्य की जो सूची मिलती है उसमें कई ऐसी पुस्तकों का उल्लेख

मिलता है, जो या तो प्रकाशित नहीं हुई, या लिखी ही नही गयी। **वर्षागीत** नाम से निराला का कोई कविता-संग्रह नही छपा। **उच्छृंखल** और **हार्यो लिया** नामक उपन्यास लिखने की उन्होने योजना बनायी थी, लेकिन वह कार्यान्वित नही हुई। इसी तरह का उनका एक अलिखित उपन्यास **सरकार की आँखें** भी है। **चमेली** और **इन्दुलेखा** निराला के पूरे नही वल्कि अधूरे उपन्यास हैं। इनका उन्होने आरम्भ ही किया था। इनके लिखित अंश रचनावली के चौथे खण्ड में संकलित कर लिये गये है। तीन नाटक भी निराला-लिखित बतलाये जाते हैं—**शकुन्तला**, **समाज** और **ऊषा**। इनमे से पहले दो नाटक निराला ने निहालचन्द एण्ड को., कलकत्ता के स्वामी श्री निहालचन्द वर्मा के आग्रह पर लिखे थे। यह अनुमानतः 1927-28 की बात है, जब कलकत्ता और 'मतवाला' से उनका अन्तिम रूप से सम्बन्ध-विच्छेद न हुआ था। श्री वर्मा के भाई श्री दयाराम वेरी ने लिखा है कि "शकुन्तला···नियमित समय पर छप भी गयी थी।" (**महाकवि श्री निराला अभिनन्दन ग्रन्थ**, सम्पादक श्री बरुआ, पृ. 57) लेकिन 1943 ई. मे स्वयं निराला ने डा. रामविलास शर्मा को सूचित किया था कि **समाज** और **शकुन्तला** अभी तक प्रकाश में नही आये [**निराला की साहित्य-साधना** (3), पृ. 399] इसी आधार पर यह समझा गया था कि इनमें मे कोई नाटक आज तक प्रकाशित नही हुआ और अब उनकी पाण्डुलिपि का कही कोई चिह्न नही है। बाद मे श्री कृष्णचन्द्र वेरी ने यह सूचना दी कि "निरालाजी लिखित **शकुन्तला** का प्रकाशन हमारे यहाँ से हुआ था किन्तु वह उनके नाम से नही छपी थी। वे उन दिनों हमारे यहाँ डेली-वेजेज पर पौराणिक पुस्तकें लिखते थे। **शकुन्तला** उसी क्रम की एक पुस्तक है। यह मेरे स्वर्गीय पिता निहालचन्द वर्मा के नाम से छपी थी। यह पौराणिक उपाख्यान है, नाटक नही।" इससे श्री दयाराम बेरी के कथन की पुष्टि होती है। पुस्तक नाटक है या उपाख्यान, इसका निर्णय उसे देखकर किया जा सकता था, लेकिन दुर्भाग्यवश बहुत प्रयास करने पर भी वह पुस्तक नही मिली। **समाज** माहेश्वरी-कोलवार-प्रकरण पर आधारित एक प्रहसन था, जो प्रकाशित नही हुआ, लेकिन उसका हिन्दी नाट्य समिति की ओर से मंचन हुआ था। उसमे स्वयं निराला दो पात्रो की भूमिका मे उतरे थे। **ऊषा** नामक नाटिका 'सुधा' में विज्ञापित हुई थी, पर यह लिखी नहीं गयी। **प्रबन्ध-परिचय** अथवा **प्रबन्ध-प्रतीक** के नाम से भी निराला का कोई निबन्ध-सग्रह कभी नही निकला। इसी तरह **वैदिक-साहित्य** नामक भी उनकी कोई मौलिक अथवा अनूदित पुस्तक नही है।

रस-अलंकार नामक पुस्तक निराला ने 1926 में पुस्तक भण्डार, लहेरिया-सराय के लिए लिखी थी। यह छात्रोपयोगी पुस्तक थी। इस पुस्तक का प्रकाशन निश्चित था, पर किसी कारण वह भी हमेशा के लिए टल गया और **समाज** नामक नाटक की तरह इसकी पाण्डुलिपि भी नष्ट हो गयी। दी पोपुलर ट्रेडिंग कम्पनी, कलकत्ता के आदेश पर 1928 ई. में निराला ने उन हिन्दीभाषियो के लिए, जो बंगला सीखना चाहते थे, एक पुस्तक लिखी थी—**हिन्दी बंगला-शिक्षा**। यह वही से उसी वर्ष के उत्तरार्द्ध में प्रकाशित भी हुई थी। यह चूंकि शुद्ध व्यावसायिक उद्देश्य से लिखी गयी पुस्तक है इसलिए इसे रचनावली में सम्मिलित नही किया गया।

निराला ने मौलिक लेखन के साथ-साथ ढेर सारा अनुवाद का काम भी किया है। उन्होंने **रामचरितमानस** का खड़ी बोली में पद्यबद्ध रूपान्तरण शुरू किया था जो उसके प्रथम सोपान के आरम्भिक अंश के रूपान्तरण से आगे नहीं बढ़ा। पुस्तक-रूप में विनय-भाग का रूपान्तर 1948 ई. में प्रकाशित हुआ, जो **रचनावली** के खण्ड दो (पहला दौर) के परिशिष्ट में संकलित है। निराला के नाम पर **फुलवारी-लीला** नामक एक और अप्रकाशित पुस्तक का जिक्र मिलता है और कहा जाता है कि उसमें मानस के धनुष-यज्ञ से सम्बन्धित भाग का खड़ी बोली मे पद्यबद्ध रूपान्तर था। श्री गंगाप्रसाद पाण्डेय ने लिखा है कि "खाना खाने के बाद निरालाजी ने···रामायण का खड़ी बोली-रूप सुनाया। प्रसंग सीता-स्वयंवर का था जो मुझे बहुत सुन्दर और सार्थक लगा।" (**महाप्राण निराला**, पृ. 274) इसका मतलब यह है कि निराला ने पुष्पवाटिका-प्रसंग को भी खड़ी बोली में रूपान्तरित किया था, लेकिन इतना तय है कि वह पुस्तक रूप में नही निकला और आज वह सुलभ भी नही है। आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री को 22 नवम्बर, 1947 के पत्र मे उन्होने लिखा था कि "जनकपुर दर्शन, वाटिका-गमन-खण्ड महादेवीजी को साहित्यकार-संसद से छपवाने के लिए" दिया है। (**निराला के पत्र**) महादेवीजी से दरयाफ्त करने पर मालूम हुआ कि निराला ने उन्हें **फुलवारी-दर्शन** की पाण्डुलिपि प्रकाशनार्थ देने को कहा था, लेकिन चूँकि रूपान्तरण पूरा नही हुआ, इसलिए उन्होने वह दी नहीं। 'मतवाला' के आरम्भिक वर्षों मे कलकत्ता से **मनहर चित्रावली** नामक एक पुस्तक प्रकाशित हुई थी। वह राजस्थानी चित्रकार पं. मोतीलाल शर्मा के चित्रों का संग्रह थी। चित्रों का परिचय व्रजभाषा छन्दों में निराला ने लिखा था। उन छन्दों का स्वतन्त्र महत्त्व न होने से उन्हें **रचनावली** में संकलित नही किया गया।

यह प्रसिद्ध है कि निराला ने गंगा-पुस्तक-माला-कार्यालय, लखनऊ के लिए रामचरितमानस की टीका लिखी थी। वह टीका पूरी हुई थी या नही, यह सन्दिग्ध है, बावजूद इसके कि गंगा-पुस्तक माला-कार्यालय के अध्यक्ष श्री दुलारेलाल भार्गव ने **रामायण की अन्तर्कथाएँ** नामक पुस्तक की भूमिका मे लिखा है कि "निराला-जी ने हमारे अनुरोध पर **रामचरितमानस** की सुबोध टीका लिखी तथा प्रसगा-नुसार अनेक महत्त्वपूर्ण अन्तर्कथाओं का समावेश कर उसे एक विशिष्टता प्रदान की।" यदि टीका पूरी हुई होती, तो किसी-न-किसी रूप मे उसका प्रकाशन अवश्य हुआ होता। उसके स्थान पर बालकाण्ड के केवल आरम्भिक अंश का दो खण्डों मे प्रकाशन हुआ जिनमें से किसी मे टीकाकार का नाम नही दिया गया है। उन खण्डो में निराला ने जो अन्तर्कथाएँ दी थीं वे एक सौ बारह पृष्ठों की छोटी-सी पुस्तक के रूप मे पूर्वोक्त नाम से काफी दिनो बाद (श्री सोहनलाल भार्गव की सूचना के अनुसार सम्भवतः 1956 ई. में) स्वतन्त्र रूप मे प्रकाशित हुई। **अन्तर्कथाएँ** की भूमिका मे भार्गवजी ने यह भी लिखा है कि "यदि पाठको ने इसे अपनाया, तो शेष कथाएँ भी हम शीघ्र ही प्रकाशित करेंगे।" इससे भी ऐसा लगता है कि निराला ने मानस की पूरी टीका लिखी थी। लेकिन **अन्तर्कथाएँ** मे प्रायः वही कथाएँ संग्रहीत हैं जो मानस की टीका के दो प्रकाशित खण्डों मे आयी है। इस

पुस्तक का ही 1970 ई. में दूसरा संस्करण हुआ, पर 'शेष कथाएँ' अभी तक नहीं निकली। ऐसी स्थिति मे डा. रामविलास शर्मा का यह कथन सही प्रतीत होता है कि 'टीका का काम बालकाण्ड के प्रारम्भिक अशों को छोड़कर आगे न बढा।" (*निराला की साहित्य-साधना (1)*, प्रथम संस्करण, पृ. *188*) *अन्तर्कथाएँ* चूंकि निराला की रचना है, इसीलिए उसे **रचनावली** के खण्ड आठ मे सकलित कर लिया गया है। टीका-अंश को छोड दिया गया है, क्योंकि गद्यानुवाद मे अनुवादक के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति का वैसा अवसर नही रहता, जैसा पद्यानुवाद मे।

निराला ने बांग्ला से अनेक पुस्तकों का गद्य में अनुवाद किया है। उनमें एक पुस्तक **वात्स्यायन कामसूत्र** भी है। इस पुस्तक का अनुवाद भी उन्होंने 1929 ई. मे श्री निहालचन्द वर्मा के आग्रह पर ही किया था। लेकिन यह पुस्तक भी प्रकाशित नही हुई और जैसा कि श्रीकृष्णचन्द्र बेरी कहते हैं, बहुत बाद को उन्होने उक्त अनुवाद की पाण्डुलिपि हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग से प्रकाशनार्थ श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन को दे दी। टण्डनजी ने वह पाण्डुलिपि साहित्यकार-संसद्, प्रयाग से प्रकाशनार्थ महादेवीजी को सौंप दी। निराला ने बांग्ला-ग्रन्थ **श्री श्रीरामकृष्ण कथामृत** का तो तीन खण्डों मे **श्री श्रीरामकृष्णवचनामृत** के नाम से हिन्दी मे अनुवाद किया ही है, उन्होने विवेकानन्द की पुस्तक **परिव्राजक** का भी, जो कि उनकी भ्रमण-कहानी है, हिन्दी मे अनुवाद किया है। इसके अलावा इण्डियन प्रेस, प्रयाग के लिए उन्होने बंकिमचन्द्र के करीब एक दर्जन उपन्यासो का अनुवाद किया। कुछ अनुवाद उनका अंग्रेजी से भी किया हुआ है। विवेकानन्द की पुस्तक **राजयोग** का आधे से थोडा कम भाग उन्ही द्वारा अनूदित है। उनकी **इण्डियन लेक्चर्स** नामक पूरी पुस्तक का उन्होंने **भारत में विवेकानन्द** नाम से अनुवाद किया है। **वचनामृत** और **परिव्राजक** के साथ ये पुस्तकें भी रामकृष्ण मठ, धंतोली, नागपुर से प्रकाशित है। इस अनुवाद-साहित्य को स्वभावतः **रचनावली** मे समाविष्ट नही किया जा सकता था, नहीं किया गया है।

रचनावली के सम्बन्ध मे सर्वाधिक मूल्यवान सुझाव डा. रामविलास शर्मा और डा. नामवर सिंह से प्राप्त हुए। डा. शर्मा से सामग्री-संकलन मे भी सहायता मिली है। इस कार्य मे श्री अमृतलाल नागर तथा श्री त्रिलोचन शास्त्री का अत्यधिक मूल्यवान सहयोग मिला। इसके अतिरिक्त सामग्री-संकलन मे सर्वश्री सोहनलाल भार्गव, राजेन्द्रप्रसाद सिंह, वासुदेवनारायण 'आलोक', श्याम कश्यप, श्रीमती गीता शर्मा, प्रो. मटुकनाथ चौधरी, गौतमप्रसाद सिंह तथा अलखनारायण का सक्रिय सहयोग मिला। सामग्री-संकलन के लिए भारत भारद्वाज ने विशेष परिश्रम किया। सम्पादन-कार्य मे पूर्वा, चिन्तन और सुप्रभात की सहायता उल्लेखनीय है। इन सबको धन्यवाद देकर हम निराला के प्रति इनकी भावना को औपचारिक नही बनाना चाहते।

रचनावली के सम्पादन में जिन पुस्तकालयों और संस्थाओ के पुस्तक और पत्रिका-संग्रह से हम लाभान्वित हुए हैं, उनमे मुख्य हैं : पटना कालेज पुस्तकालय, पटना विश्वविद्यालय पुस्तकालय, अनुसन्धान पुस्तकालय (विहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना), श्रीरामकृष्ण मिशन आश्रम पुस्तकालय (पटना), उच्च विद्यालय

पुस्तकालय (चांदपुरा, वैशाली), आर्यभाषा पुस्तकालय (नागरी-प्रचारिणी-सभा, काशी), 'आज'-कार्यालय (वाराणसी), सम्मेलन पुस्तकालय (हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग), भारती भवन (इलाहाबाद), लीडर प्रेस (इलाहाबाद), राष्ट्रीय पुस्तकालय (कलकत्ता), श्री बड़ा बाजार कुमार सभा पुस्तकालय (कलकत्ता), श्री हनुमान पुस्तकालय (सलकिया, हावड़ा) और जवाहरलाल नेहरू मेमोरियल (तीन मूर्ति भवन, नयी दिल्ली)। इन पुस्तकालयों और संस्थाओं के अधिकारियों ने हमें जो सुविधाएँ दीं, उनके लिए हम उनके अनुगृहीत हैं।

निराला के अनन्य मित्र और हितचिन्तक आचार्य शिवपूजन सहाय ने उनके निधनोपरान्त एक लेख में लिखा था : "निराला तो निस्सन्देह धन्य थे! पर अब कोरा धन्य-धन्य कहने से कोई लाभ नहीं। उनकी समस्त रचनाओं को 'निराला ग्रन्थावली' के रूप में प्रकाशित करने का संगठित उद्योग होना चाहिए। उनकी बर्षी पर उनकी ग्रन्थावली की श्रद्धांजलि अर्पित हो सकती, तो हिन्दी-माता को वस्तुतः बड़ी सान्त्वना मिलती।" हिन्दी-माता को सान्त्वना प्रदान करने का यह कार्य निराला के निधन के करीब दो दशकों के बाद राजकमल प्रकाशन की प्रबन्ध-निदेशिका श्रीमती शीला सन्धू के प्रयास से सम्भव हुआ है। उन्होंने रचनावली के प्रकाशन की योजना से लेकर उसके कार्यान्वयन तक में जो गहरी अभिरुचि दिखलायी है, वह अत्यधिक श्लाघनीय है। यदि वे समय पर हमें सारे साधन सुलभ न करातीं, तो सम्पादन-कार्य कभी समय-सीमा के भीतर सम्पन्न न हो सकता था। रचनावली की प्रस्तुति का सारा कार्य राजकमल के प्रकाशन निदेशक श्री मोहन गुप्त की देख-रेख में हुआ है। उनकी सूझ-बूझ और श्रमनिष्ठा के बिना ऐसा चारु और भव्य प्रकाशन सम्भव न था। स्वभावतः श्रीमती सन्धू और श्री गुप्त हमारे हार्दिक धन्यवाद के पात्र हैं।

नन्दकिशोर नवल

रानीघाट लेन, महेन्द्रू,
पटना-800006,
12 नवम्बर, 1982

पहला खण्ड

निराला ने 1920 ई. के आसपास से कविता लिखना शुरू किया और प्रायः 1961 ई. तक लिखते रहे। उनकी करीब चालीस वर्षों की यह काव्य-साधना सामान्यतया तीन चरणों में विभाजित है। पहले चरण की कालावधि 1920 ई. से लेकर 1938 ई. तक है। दूसरा चरण 1939 ई. से शुरू होता है और 1949 ई. तक चलता है। तीसरे चरण का विस्तार 1950 ई. से लेकर 1961 ई. तक है। **रचनावली** में निराला की कविता को दो खण्डों में समेटा गया है। खण्ड एक में पहले चरण की कविताएँ संकलित की गयी हैं और खण्ड दो मे शेष दो चरणों की।

पहले चरण मे निराला की जो कविता-पुस्तकें प्रकाशित हुईं, वे हैं: प्रथम **अनामिका, परिमल, गीतिका,** द्वितीय **अनामिका** और **तुलसीदास।** प्रथम **अनामिका** की जो प्रति देखने मे आयी है, उसमे प्रकाशन-वर्ष का उल्लेख नही है। लेकिन उसमे प. चन्द्रशेखर शास्त्री की जो सम्मति उद्धृत की गयी है, उसके नीचे 3 जुलाई 1923 की तिथि दी हुई है। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि यह पुस्तक 1923 ई. की जुलाई या अगस्त मे छपकर बाहर आयी होगी। दूसरी बात यह कि इस पुस्तक मे कवि का नाम सिर्फ सूर्यकान्त त्रिपाठी दिया गया है, यानी उसके साथ 'निराला' उपनाम जुड़ा हुआ नही है। यह सुपरिचित तथ्य है कि 'निराला' एक छद्मनाम था और वह निराला को 'मतवाला' के अनुप्रास पर दिया गया था। 'मतवाला' का प्रकाशन-काल है: 26 अगस्त, 1923। इससे इस तथ्य की पुष्टि होती है कि प्रथम **अनामिका** 'मतवाला' के प्रकाशन के पहले निकली थी। यदि ऐसा न होता तो कवि के नाम के साथ उपनाम के रूप मे उसका 'छद्मनाम' भी अवश्य जुड़ा होता, जैसा कि हमे उसकी बाद की पुस्तकों मे देखने को मिलता है। 'मतवाला' के प्रवेशांक के अन्तिम पृष्ठ पर प्रथम **अनामिका** का विज्ञापन भी छपा है, जिसमे पुस्तक के प्रकाशित होने का पक्का संकेत है। इसके अलावा 22 दिसम्बर 1923 को 'मतवाला' का जो अंक निकला, उसमे निराला की 'जुही की कली' शीर्षक कविता इस सूचना के साथ छपी—'अनामिका से उद्धृत'। इसी समय 'समन्वय' [वर्ष 2, अंक 11, सौर अग्रहायण, संवत् 1980 वि. (नवम्बर-दिसम्बर, 1923)] मे प्रथम **अनामिका** की समीक्षा भी निकली। इन दोनों बातों से भी पता चलता है कि प्रायः दिसम्बर, 1923 के पहले यह पुस्तक प्रकाशित हो चुकी थी। डा. रामविलास शर्मा ने **निराला की साहित्य-साधना** (3)

में 27 अक्तूबर, 1923 का पं. महावीरप्रसाद द्विवेदी को लिखा गया निराला का एक पत्र दिया है, जिसमें उन्होंने लिखा था कि कलकत्ते में उनकी मुलाकात बाबू मैथिलीशरण गुप्त और श्री रायकृष्णदास से हुई, तो उन्होंने "एक-एक अनामिका दूनो जनेन क दीन।" इससे यह स्पष्ट है कि प्रथम **अनामिका** दिसम्बर, 1923 ही नहीं, 27 अक्तूबर, 1923 के भी पहले निकली। इसे श्री नवजादिकलाल श्रीवास्तव ने प्रकाशित किया था। पुस्तक बालकृष्ण प्रेस (23, शंकरघोष लेन, कलकत्ता) मे छपी थी, जिसके मालिक श्री महादेवप्रसाद सेठ थे। प्रेस का जो पता था, वही प्रकाशक का भी था।

परिमल के प्रकाशन-वर्ष को लेकर कोई बखेडा नही है। इसके प्रथम सस्करण (गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय, लखनऊ) मे दी गयी सूचना के अनुसार यह पुस्तक संवत् 1986 (वि.) मे प्रकाशित हुई। अक्तूबर 1929 की 'सुधा' मे 'साहित्य-सूची' स्तम्भ के अन्तर्गत **परिमल** का प्रकाशन-काल सितम्बर 1929 बतलाया गया है। साहित्य-साधना (3) मे 25 सितम्बर, 1929 का निराला को लिखा हुआ पं. नन्ददुलारे वाजपेयी का एक पत्र संकलित है, जिसमें उन्होने लिखा है कि "आज **परिमल** देखने को मिली।" इससे **परिमल** के सितम्बर, 1929 मे प्रकाशित होने की बात की पुष्टि होती है। **गीतिका** के प्रथम संस्करण (भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद) मे यह सूचना दी गयी है कि यह पुस्तक संवत् 1993 (वि.) में प्रकाशित हुई। निराला ने 7 नवम्बर, 1936 को डा. शर्मा को एक पत्र लिखा था, जिसमे उन्होने उन्हे यह समाचार दिया था कि "**गीतिका** सोम-मगल तक तैयार हो जायेगी।" [**साहित्य-साधना** (3)] उन्हीं को 9 नवम्बर, 1936 को वे पुन: लिखते हैं कि "**गीतिका** निकल गयी।" (उपर्युक्त) इससे यह स्पष्ट है कि **गीतिका** 1936 ई. के नवम्बर के आरम्भ मे निकली।

द्वितीय **अनामिका** के प्रथम सस्करण (भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद) मे जो सूचना दी गयी है उसके अनुसार यह पुस्तक संवत् 1995 (वि.) मे प्रकाशित हुई। 1995 मे 57 घटाकर विद्वानो ने सरल ढंग से द्वितीय **अनामिका** का प्रकाशन-वर्ष 1938 ई स्थिर कर दिया है। प्राप्त प्रमाणों से यह गलत साबित होता है। 31 दिसम्बर, 1938 को निराला ने कलकत्ता से श्री वाचस्पति पाठक को एक पत्र में लिखा था : "प्रूफ भी भेज रहा हूँ। पर 'राम की शक्तिपूजा' एक बार और देखूंगा"। [**साहित्य-साधना** (3)] पाठकजी भारती भण्डार मे ही सम्बन्धित थे, जिसमे यह समझा जा सकता है कि निराला ने यह पत्र उन्हें द्वितीय **अनामिका** के प्रकाशन के सम्बन्ध मे ही लिखा था। प्रूफ उसी पुस्तक का था और 'राम की शक्तिपूजा' उसी पुस्तक मे संकलित है। निष्कर्ष यह कि 1938 ई. की अन्तिम तिथि तक भी वह पुस्तक प्रकाशित नही हुई थी। निराला का एक दूसरा पत्र 25 मार्च, 1939 का आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री के नाम लिखा हुआ है, जिसमे वे कहते हैं : "तुलसीदास और **अनामिका** निकल गयी।" (**निराला के पत्र**) इसका मतलब यह हुआ कि द्वितीय **अनामिका** का प्रकाशन-काल 1938 ई. का अन्त न होकर, 1939 ई. का आरम्भ है। 'तुलसीदास' नामक निराला की कविता 1934 ई. में रची गयी थी। 1935 ई. की 'सुधा' के अकों

में वह किस्तवार निकली थी। वे कुछ और प्रबन्धात्मक कविताएँ लिखकर **गाथा** नाम से उनका एक स्वतन्त्र संग्रह निकालना चाहते थे। दुर्भाग्यवश चूँकि वैसी अधिक कविताएँ वे नही लिख सके, इसलिए 'राम की शक्तिपूजा' को द्वितीय **अनामिका** मे सम्मिलित कर उन्होने सिर्फ 'तुलसीदास' को स्वतन्त्र रूप में निकाला। जैसा कि 25 मार्च, 1939 को शास्त्रीजी को लिखे गये उनके पत्र से स्पष्ट है, **तुलसीदास** भी 1939 ई के आरम्भ में ही बाहर आया, सम्भवत: द्वितीय **अनामिका** के बाहर आने के कुछ दिनों बाद। द्वितीय **अनामिका** की तरह ही **तुलसीदास** के प्रथम संस्करण मे भी यह सूचना दी गयी है कि उसका प्रकाशन-काल सवत् 1995 (वि.) है।

प्रथम **अनामिका** मे निराला की नौ कविताएं संकलित हुई थी। बाद मे जब **परिमल** निकला, तो उन्होंने उसमें दो को छोड़कर उसकी सात कविताएँ ले ली। **परिमल** मे उस काल की जो कविताएँ नही दी जा सकी थी, उन्हें निराला ने द्वितीय **अनामिका** मे डाल दिया। **तुलसीदास** के बारे मे कहा जा चुका है कि उसकी रचना पहले हुई, पर पुस्तक रूप मे उसका प्रकाशन द्वितीय **अनामिका** के बाद हुआ। **असंकलित कविताएँ** मे विभिन्न कालो की रचनाएँ सकलित है। ऐसी स्थिति मे **रचनावली** मे पुस्तक-क्रम से निराला की कविताएँ दे सकना उलझन पैदा करनेवाला होता। लिहाजा यह उल्लेख करते हुए कि कौन कविता किस पुस्तक मे सकलित हुई है, उन्हें रचना-क्रम से देने का प्रयास किया गया है।

खण्ड एक मे सकलित निराला की सभी कविताओ की रचना-तिथि का पता लगाना प्राय: एक असम्भव काम है। कारण यह कि द्वितीय **अनामिका** को छोड़ दें, तो अन्य किसी भी पुस्तक की कविताओ के नीचे उन्होने रचना-तिथि नही दी है। आज वे कापियाँ या डायरियाँ भी सुलभ नही है, जिनमे वे अपनी कविताएँ दर्ज किया करते थे। मजे की बात यह है कि द्वितीय **अनामिका** की अनेक कविताओं के नीचे उन्होने जो तिथि दी है, वह रचना-काल को सूचित न कर प्राय: पत्र-पत्रिकाओ में उनके प्रकाशन-काल को सूचित करती है। उदाहरण के लिए 'प्रलाप', 'अनुताप', 'यही', आदि कविताओ को देखा जा सकता है। इतना ही नहीं, कभी-कभी तो ऐसा भी हुआ है कि कविता पहले छप चुकी है और उसकी रचना-तिथि बाद ी दी गयी है। द्वितीय **अनामिका** में संकलित कविता 'क्या गाऊँ' के नीचे 1 सितम्बर, 1924 की तिथि दी गयी है, जब कि यह कविता 'कवीन्द्र' मे उसके पहले ही छप चुकी थी। इन बातो को मद्देनजर रखते हुए यहाँ पत्र-पत्रिकाओ मे प्रकाशन-काल को प्रमुखता देनी पड़ी है और इस तरह कविताओं को रचना-क्रम से सजाने के स्थान पर प्रकाशन-क्रम से सजाना पड़ा है। प्रकाशन-क्रम निश्चय ही रचना-क्रम नही है, क्योंकि कविताओं के उनकी रचना के बाद क्रमहीन रूप मे पत्र-पत्रिकाओं मे प्रकाशित होने की पूरी सम्भावना है। कई बार तो कविताएँ पुस्तको मे संकलित हो जाने के बाद पत्र-पत्रिकाओं मे प्रकाशित होती है। लेकिन सामान्यतया प्रकाशन-क्रम रचना-क्रम के निकट होता है। इसी भरोसे खण्ड एक की कविताओं को प्राय: प्रकाशन-क्रम से सजाया गया है। यहाँ एक कठिनाई यह भी है कि सारी-की-सारी कविताएँ पत्र-पत्रिकाओं मे प्रकाशित नही हुई। जो

कविताएँ पुस्तकों में ही मिली हैं, उनके नीचे केवल यह सूचना दी गयी है कि वे किन पुस्तकों में संकलित हैं। इससे यह तो पता चल ही जाता है कि उनका रचना-काल पुस्तकों के प्रकाशन-काल के पहले पड़ता है। गीतिका के आधे से अधिक गीत पत्र-पत्रिकाओं मे प्रकाशित मिल गये, लेकिन बाकी गीत नही मिले। जो गीत नही मिले, उनके नीचे केवल यह निर्दिष्ट कर दिया गया है कि वे गीतिका मे संकलित हैं। इससे यह ज्ञात हो जाता है कि वे गीतिका के प्रकाशन-काल (नवम्बर, 1936) के पहले रचे गये। इसमे यह भी सकेत मिलता है कि सामान्यतया उनकी रचना परिमल के प्रकाशन-काल (सितम्बर, 1929) के बाद हुई होगी। निराला की जिन कविताओं को पत्र-पत्रिकाओ मे नही ढूँढा जा सका, निश्चय ही उनमे से अनेक कविताओं को भविष्य मे शोधकर्त्ता ढूँढ़ निकालेंगे, जिससे उनके रचना-काल के सम्बन्ध में अधिक निश्चय के साथ कुछ कहा जा सकेगा।

निराला ने काव्य-रचना का आरम्भ कब किया, यह कहना मुश्किल है। लेकिन जब 1920 ई. मे उनकी पहली कविता प्रकाशित हुई, तो यह स्पष्ट है कि उन्होंने कुछ वर्ष पहले से ही काव्य-रचना का अभ्यास शुरू कर दिया होगा। श्री गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' ने लिखा है कि पहली बार सम्भवत: 1918 ई. में उन्नाव मे निराला उनसे मिले थे। उन्होंने उस समय उन्हें एक स्वरचित छन्दोबद्ध कविता सुनायी थी। ('साप्ताहिक हिन्दुस्तान', 11 फरवरी, 1962) इससे उक्त कथन की पुष्टि होती है। 'जुही की कली' निराला की पहली रचना है या नहीं, इस विषय पर डॉ. शर्मा ने साहित्य-साधना (3) की भूमिका मे पर्याप्त प्रकाश डाला है। कारण-विशेष से निराला कुछ दिनो बाद अपनी काव्य-रचना के आरम्भ-काल को पीछे खिसकाने लगे थे। अपरा 1946 ई. मे प्रकाशित हुई। कहा जाता है कि उसमे संकलित कविताओ के नीचे जो रचना-तिथि दी गयी है, वह स्वयं निराला के द्वारा। उसमे अनेक कविताओं का रचना-काल न केवल पीछे खिसकाया गया है, बल्कि अनेक कविताओं की रचना-तिथि गलत दी गयी है। उदाहरण के लिए तुलसीदास का जो अश सकलित किया गया है, उसे 1938 ई. की रचना कहा गया है, जबकि सम्पूर्ण रूप में यह कविता 1935 ई. की 'सुधा' के अंकों मे प्रकाशित हो चुकी थी। इसी तरह द्वितीय अनामिका मे संकलित 'मरण-दृश्य' शीर्षक कविता जहाँ उसके अनुसार 5 जनवरी, 1938 को रचना है, वहाँ अपरा के अनुसार 1939 ई. की रचना। इस तरह की भूलें ढेर सारी हैं। ऐसी स्थिति मे अपरा में दिये गये कविताओ के रचना-काल को सही मानने का प्रश्न ही नही उठता है। निराला के एतद्सम्बन्धी कथनों मे स्वभावत: अनेक असंगतियाँ हैं।

निराला के पहले चरण के काव्य में भी तीन स्तर हैं। उनका काव्य बहुत ही संश्लिष्ट है। वे एक स्तर पर अन्य स्तरों के काव्य की भी रचना करते हैं। इसके बाद भी किसी हद तक यह विभाजन सम्भव है। पहले चरण के पहले दौर में वे कई तरह की कविताएँ लिखते हैं, वस्तु की दृष्टि से भी और रूप की दृष्टि से भी। इस कारण उसमे बहुत अधिक विविधता है। इस दौर की अवधि मोटा-मोटी 1920 ई. से लेकर 1929 ई. के मध्य तक है। दूसरे दौर मे निराला गीतो

की ओर मुडते हैं। पहले दौर के अन्त में ही वे मुख्य रूप से गीतों की रचना करने लगे थे और उनके गीत 'वाणी' शीर्षक से 'मतवाला' में निकलने लगे थे। इसका मतलब यह था कि उनकी योजना बाद में वाणी नाम से गीतों का संग्रह प्रकाशित कराने की थी। गीतों का वह संग्रह गीतिका नाम से निकला। गीतिका में वस्तुगत तथा रूपगत काफी विविधता है, तथापि उसकी सारी रचनाएँ कविता के एक रूप 'गीत' के अन्तर्गत ही आयेंगी। इस दौर की अवधि स्पष्टतः 1929 ई. के उत्तरार्ध से लेकर प्रायः 1936 ई. के मध्य तक है। दूसरे दौर की तरह तीसरे दौर की कडी भी पिछले दौर के भीतर से मुडती है। निराला का गीत-रचनावाला दौर अभी पूरी तरह से समाप्त नही हुआ था, पर वे लम्बी कविताओं की ओर मुड चुके थे। 1934 ई. मे उन्होने तुलसीदास नामक अपनी लम्बी प्रबन्धात्मक कविता लिखी। उसके बाद इसी दौर मे उन्होने अपनी वे अमर कविताएँ लिखी, जो उनके सम्पूर्ण काव्य-साहित्य मे शिखरों के समान उठी हुई हैं—'मित्र के प्रति', 'सरोज-स्मृति', 'प्रेयसी', 'राम की शक्तिपूजा', 'सम्राट् अष्टम एडवर्ड के प्रति' और 'वन-वेला'। पहले चरण का यह अन्तिम दौर प्रायः 1938 ई. के सितम्बर तक चलता है।

इस खण्ड में निराला की कुछ ऐसी कविताएँ भी सम्मिलित की गयी हैं, जो 'मतवाला' मे अनाम या छद्मनाम से निकली थीं। खड़ी बोली में लिखी गयी ऐसी कविताएँ दो हैं—'गरीबों की पुकार' और 'देवि! कौन वह?' पहली कविता 'मतवाला' के 6 अक्तूबर, 1923 के अंक में निकली थी। उसके साथ उसके रचयिता का नाम नही दिया गया था। दूसरी कविता 'मतवाला' के 3 नवम्बर, 1923 के अंक मे छपी थी। उसके साथ उसके रचयिता का नाम 'शोहर' दिया गया था। आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री निराला के निकट के लेखकों मे से हैं। उन्होने अपनी पत्रिका 'बेला' (मुजफ्फरपुर) के पाँचवें अंक मे 'गरीबों की पुकार' शीर्षक कविता फिर से छापी है और उसे निरालाकृत कहा है। डा. शर्मा ने साहित्य-साधना (1) मे 'देवि! कौन वह?' शीर्षक कविता को निराला की ही रचना ठहराया है। उन्होने लिखा है कि उक्त कविता छद्मनाम से इसलिए छपी थी कि 'जहाँ तीन से तेरह लेखकों का काम लेना है–यह दिखाने के लिए कि पत्र को बहुत लेखकों का सहयोग प्राप्त है—वहाँ छद्मनामों के बिना काम चल ही न सकता था।' (पृ.70) इन दोनों बातों को साक्ष्य के रूप में स्वीकार कर ही इन दोनो कविताओं को निराला की रचना माना गया है। इस खण्ड में निराला की तीन ऐसी कविताएँ भी दी जा रही हैं, जो अब तक असंकलित थी। ये कविताएँ हैं: 'कवि के प्रति', 'वेदना' और 'रेखा'। सम्भव है, ये कविताएँ निराला ने जानबूझकर छोड दी हों और सम्भव है, ये उनसे छूट गयी हों। हमारा खयाल है कि उनकी कुछ कविताएँ अभी भी पत्र-पत्रिकाओं मे दबी हुई हैं। निराला-साहित्य पर शोध करनेवालो से यह अपेक्षा है कि वे उन्हें ऊपर करें।

निराला अपनी कविताओं में अन्त-अन्त तक संशोधन और सम्पादन करते रहते थे। इसके परिणामस्वरूप उनकी अनेक कविताओं के पाठ मे अन्तर मिलता है। पत्र-पत्रिकाओं मे प्रकाशित कविताओं का पाठ एक तरह का है और पुस्तकों

में संकलित कविताओं का पाठ दूसरी तरह का। 'मतवाला' में उनकी 'दिल्ली', 'प्रगल्भ प्रेम' और 'उद्बोधन' ('गा अपने संगीत' शीर्षक से) शीर्षक कविताएँ छपी थी। ये तीनो ही कविताएँ द्वितीय अनामिका मे संकलित हैं। 'मतवाला' में प्रकाशित इनके रूप से इन्हें मिलाकर देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि निराला बाद में भी किस तरह अपनी कविताओं को संशोधन और सम्पादन के द्वारा बेहतर बनाने का प्रयास करते रहते थे। इस प्रयास में कविता कभी-कभी बिलकुल बदल जाती थी। इसका दिलचस्प उदाहरण उनकी 'कविता' शीर्षक कविता है। यह कविता 'मतवाला' के 10 नवम्बर, 1923 के अंक में 'उस पार' शीर्षक से निकली थी। बाद में निराला ने उसमे इतना परिवर्तन किया कि वह एक नयी कविता हो गयी और 'शृंगारमयी' शीर्षक से 'माधुरी' के 13 जनवरी, 1924 के अंक में प्रकाशित हुई। वह अब तक असंकलित थी। इस कविता के दोनों रूप संकलित कर दिये गये है, जिससे निराला की सृजन-प्रक्रिया के एक महत्त्वपूर्ण पक्ष पर प्रकाश पड़ सके। उनकी कविताओं में पाठान्तर का एक कारण मुद्रण भी है। उनकी कविता-पुस्तकों के कई-कई संस्करण हो चुके हैं। इस क्रम में प्रूफरीडरों की असावधानी या 'अतिरिक्त सावधानी' के कारण अनेक कविताओं का पाठ बिगड़ता चला गया है। अतः कविताओं को कविता-पुस्तकों के प्रथम संस्करणों या पत्र-पत्रिकाओं मे प्रकाशित उनके रूप से मिलाकर पाठ यथासम्भव ठीक कर दिया गया है। जहाँ निराला ने स्वयं पाठान्तर किया है, वहाँ उत्कृष्टतर पाठ को ही स्वीकार किया गया है, जो कि प्रायः परवर्ती पाठ है।

निराला खड़ी बोली के कवि थे, लेकिन कभी-कभी वे ब्रजभाषा और अवधी या दोनों के मिश्रण से तैयार की गयी भाषा मे भी काव्य-रचना किया करते थे। उनकी ऐसी पाँच कविताएँ इस खण्ड के परिशिष्ट में दी गयी हैं। 'रक्षाबन्धन (1)' और 'कृष्ण-महातम' शीर्षक कविताएँ 'मतवाला' के क्रमशः 26 अगस्त और 1 सितम्बर, 1923 के अंकों में निकली थी और उनका रचयिता 'पुराना महारथी' को बतलाया गया था। वस्तु और किसी हद तक शैली से भी यह संकेत मिलता है कि वे कविताएँ निराला द्वारा ही रचित है। यहाँ वे दोनों कविताएँ असंकलित कविताएँ से संकलित की गयी हैं। 'एक प्रशस्ति' शीर्षक कविता निराला ने श्री शिवपूजन सहाय को पत्र के साथ भेजी थी। वह यहाँ डा. शर्मा के ग्रन्थ साहित्य-साधना (3) से संकलित की गयी है। 'कालेज का बचुआ' निराला की खड़ी बोली में रची गयी कविता है, लेकिन चूंकि इसकी प्रकृति खण्ड एक की कविताओं मे भिन्न है, इसलिए इसे भी परिशिष्ट में ही दिया गया है। इसी में निराला की वे कविताएँ भी दी गयी हैं, जो रजनी सेन, विवेकानन्द, चण्डिदास, गोविन्ददास या रवीन्द्रनाथ की बंगला-कविताओं का अनुवाद हैं या उनका आधार लेकर रची गयी हैं। रवीन्द्रनाथ की कविताओं के 'अनुवाद' के बारे में दो शब्द कहना जरूरी है, क्योंकि उसी को लेकर निराला पर आफत आयी थी। उन्हें सम्पूर्ण हिन्दी-संसार में यह कहकर बदनाम किया गया था कि वे रवीन्द्रनाथ की कविताओं का अनुवाद अपनी मौलिक कविताएँ कहकर छपवाते हैं। अन्ततः 'मतवाला'-मण्डल की दृष्टि मे भी वे गिर गये थे और करीब वर्ष-भर के लिए 'मतवाला' में उनकी कविताओं का

छपना बन्द हो गया था। निराला को 'अनूदित' कविताओं के साथ मूल कवि का नाम देना चाहिए था, लेकिन यह ज्ञातव्य है कि उन्होने रवीन्द्रनाथ की कविताओं का भाषान्तर नही किया है, बल्कि उन्हें अपने हिसाब से फिर से रचा है। प्रसिद्ध है कि चेखव तोलस्तोय की कहानियों का पुनर्लेखन किया करते थे। निराला ने रवीन्द्रनाथ की कविताओं को 'क्लासिकल' गम्भीरता और सौन्दर्य प्रदान कर दिया है; चित्र को मूर्ति में बदल दिया है। इस दृष्टि से वे जितनी रवीन्द्रनाथ की कविताएँ हैं, उतनी ही निराला की भी। परिशिष्ट के अन्त मे इस खण्ड में जिन कविता-पुस्तकों की कविताएँ समाविष्ट हैं, उनकी भूमिकाएँ और समर्पण भी दे दिये गये हैं।

इस खण्ड मे संकलित निराला की कविताओं पर विस्तार मे जाकर आलोचनात्मक टिप्पणी करना आवश्यक नही है। निराला मूलतः स्वच्छन्दतावादी कवि थे, इसलिए स्वभावतः उनकी कविताओं मे हमें आत्मस्वीकृति और आत्माभिव्यक्ति मिलती है। लेकिन यह उनकी कविताओं का एक पक्ष है। वे आरम्भ से ही सामाजिक यथार्थ का चित्रण करते आ रहे थे। उनकी यह प्रवृत्ति उनमे क्रमशः दृढ़तर होती गयी है। उन्हें हिन्दी मे दार्शनिक कवि के रूप मे प्रचारित किया गया था, जिसका मतलब यह था कि वे अपनी कविताओं मे केवल वेदान्त का भाष्य प्रस्तुत किया करते हैं। निराला की इस खण्ड मे संकलित कविताओ में वेदान्त का प्रभाव स्पष्ट है, तथापि वास्तविकता यह है कि उनका असली झुकाव 'चित्रण' की ओर था, 'वक्तव्य' की ओर नही। इन्ही कविताओ मे वे छायावाद में मिलनेवाले मिथक और यथार्थ के बीच के अन्तर्विरोध को गहरा बनाते हैं और उसे यथार्थ की भूमि पर हल करने का संकेत देते हैं। इस खण्ड का सम्पादन हमारे लिए इस कारण एक स्फूर्ति से भरा हुआ अनुभव रहा है कि हमने आधुनिक भारत के एक अत्यन्त श्रेष्ठ कवि को क्रमशः निर्मित और विकसित होते देखा है। व्यक्ति और परिवेश के द्वन्द्व से कैसे निराला की काव्य-चेतना यथार्थ के वास्तविक रूप की पहचानने में समर्थ होती गयी है, यह इस खण्ड की कविताओ का सावधानी से अध्ययन करनेवाला कोई भी पाठक देख सकेगा।

रानीघाट लेन, महेन्द्रू,
पटना-800006
9 मार्च, 1982

नन्दकिशोर नवल

अनुक्रम

पहला दौर

दूसरा दौर

तीसरा दौर

परिशिष्ट

मौलिक कविताएँ

अनूदित कविताएँ

भूमिकाएँ और समर्पण

कविताएँ

(1920—1938)

जन्मभूमि
(डी. एल. राय का स्वर)

वन्दूँ मैं अमल कमल,—
चिरसेवित चरण युगल—
शोभामय शान्तिनिलय पाप ताप हारा,
मुक्त बन्ध, घनानन्द मुदमंगलकारी ।।
वधिर विश्व चकित भीत सुन भैरव वाणी ।
जन्मभूमि मेरी है जगन्महारानी ।। 1 ।।

मुकुट शुभ्र हिमागार ।
हृदय बीच विमल हार—
पंचसिन्धु ब्रह्मपुत्र रवितनया गंगा ।
विन्ध्य विपिन राजे घन घेरि युगल जंघा ।।
वधिर विश्व चकित भीत सुन भैरव वाणी ।
जन्मभूमि मेरी है जगन्महारानी ।। 2 ।।

त्रिदश कोटि नर समाज,
मधुर-कण्ठ-मुखर आज ।।
चपल चरणभंग नाच तारागण सूर्यचन्द्र ।
चूम चरण ताल मार गरज जलधि मधुर मन्द्र ।।
वधिर विश्व चकित भीत सुन भैरव वाणी ।
जन्मभूमि मेरी है जगन्महारानी ।। 3 ।।

['प्रभा', मासिक, कानपुर, 1 जून, 1920 । असंकलित कविताएँ में संकलित]

अध्यात्म-फल

जब कड़ी मारें पड़ी, दिल हिल गया,
पर न कर चूँ भी कभी पाया यहाँ,
मुक्ति की तव युक्ति से मिल खिल गया
भाव, जिसका चाव है छाया यहाँ।

खेत मे पड़ भाव की जड गड़ गयी,
धीर ने दुख-नीर से सींचा सदा,
सफलता की थी लता आशामयी,
झूलते थे फूल,—भावी सम्पदा!

दीन का तो हीन ही यह वक्त है,
रंग करता भग जो सुख-संग का
भेद से कर छेद पीता रक्त है
राज के सुख-साज-सौरभ-अग का।

काल की ही चाल से मुरझा गये
फूल, हूलें शूल जो दुख मूल में
एक ही फल, किन्तु हम बल पा गये,
प्राण है वह, त्राण सिन्धु अकूल में।

मिष्ट है, पर इष्ट उनका है नही
शिष्ट पर न अभीष्ट जिनका नेक है,
स्वाद का अपवाद कर भरते मही,
पर सरस वह नीति-रस का एक है।

['प्रभा', मासिक, कानपुर, 1 नवम्बर, 1921 ('अध्यातम-पुरुष' शीर्षक मे)। पहले प्रथम अनामिका मे, फिर परिमल मे संकलित]

जुही की कली

विजन-वन-वल्लरी पर
सोती थी सुहाग-भरी—स्नेह-स्वप्न-मग्न—
अमल-कोमल-तनु तरुणी—जुही की कली,
दृग बन्द किये, शिथिल—पत्राङ्क में,
वासन्ती निशा थी;
विरह-विधुर-प्रिया-सग छोड़
किसी दूर देश मे था पवन
जिसे कहते हैं मलयानिल।
आयी याद बिछुड़न से मिलन की वह मधुर बात,
आयी याद चांदनी की धुली हुई आधी रात,
आयी याद कान्ता की कम्पित कमनीय गात,
फिर क्या ? पवन
उपवन-सर-सरित गहन-गिरि-कानन
कुञ्ज-लता-पुञ्जों को पार कर
पहुँचा जहां उसने की केलि
कली-खिली-साथ।
सोती थी,
जाने कहो कैसे प्रिय-आगमन वह ?
नायक के चूमे कपोल,
डोल उठी वल्लरी की लड़ी जैसे हिण्डोल।
इस पर भी जागी नहीं,
चूक-क्षमा मांगी नहीं,
निद्रालस वंकिम विशाल नेत्र मूंदे रही—
किंवा मतवाली थी यौवन की मदिरा पिये,
कौन कहे ?
निर्दय उस नायक ने
निपट निठुराई की
कि झोंकों की झड़ियों से
सुन्दर सुकुमार देह सारी झकझोर डाली,
मसल दिये गोरे कपोल गोल;
चौंक पड़ी युवती—
चकित चितवन निज चारों ओर फेर,
हेर प्यारे को सेज-पास,

नम्रमुख हँसी—खिली,
खेल रंग, प्यारे संग।

['आदर्श', मासिक, कलकत्ता, मार्गशीर्ष, संवत् 1979 वि. (नवम्बर-दिसम्बर, 1922)। पहले प्रथम अनामिका में, फिर परिमल में संकलित]

माया

तू किसी के चित्त की है कालिमा
या किसी कमनीय की कमनीयता?
या किसी दुखदीन की है आह तू
या किसी तरु की तरुण वनिता-लता?

तू किसी भूले हुए की भ्रान्ति है
शान्ति-पथ पर या किसी की गम्यता?
शीत की नीरस निठुर तू यामिनी
या वसन्त-विभावरी की रम्यता?

यक्ष विरही की कठिन विरह-व्यथा
या कि तू दुष्यन्त-कान्त शकुन्तला?
या कि कौशिक-मोह की तू मेनका
या कि चित्त-चकोर की तू विधु-कला?

तू किसी वन की विषम विष-वल्लरी
या कि मन्द समीर गन्ध-विनोद की?
या कि विधवा की करुण चिन्ता-चिता
बालिका तू मा कि मा की गोद की?

सुप्त सुख की सेज पर सोती हुई
हो रही है भैरवी तू नागिनी
या किसी व्याकुल विदेशी के लिए
बज रही है तू इमन की रागिनी?

या किसी जन जीर्ण के सम्मुख खड़ी
है निकट बीभत्स की कटु-मूर्ति तू
या कि कोमल-बाल-कवि-कर-कञ्ज से
हो रही शृङ्गार-रस की स्फूर्ति तू ?

या सताती कुमुदिनी को तू अरी
है निरी पैनी छुरी रवि की छटा
तू मयूरों के लिए उन्मादिनी
या कि है सावन-गगन की घन-घटा ?

या कहीं सुन्दर प्रकृति बन-सँवरकर
नृत्य करती नायिका तू चञ्चला,
या कहीं लज्जावती क्षिति के लिए
हो रही सरिता मनोहर मेखला ?

या कि भव-रण-रङ्ग से भागे हुए
कायरों के चित्त की तू भीति है
या कि विजयोल्लास के प्रति शब्द मे
तू विजेता की विजय की प्रीति है ?

सृष्टि के अन्तःकरण मे तू बसी
है किसी के भोग-श्रम की साधना,
या कि लेकर सिद्धि तू आगे खड़ी
त्यागियों के त्याग की आराधना ?

['समन्वय', मासिक, कलकत्ता, सौर पौष, संवत् 1979 वि. (दिसम्बर, 1922—जनवरी, 1923) । पहले प्रथम अनामिका में, फिर परिमल में संकलित]

विरहिणी पर व्यंग
(घनाक्षरी)

हार मन मार मार की बहू ललाट ठोंक
काजल बहा कपोल कुत्सित किया करें।
अंचल ? लजी मशालची की लालटेन काली
नेत्र जल से प्रबल नासिका सदा क्षरे।

कल्पना ललाम की लगाम थाम कविदल
मुख तुलना न कभी चन्द्र के विना करे।
चांद आइने में चारु चित्र देख चुप वह
तकिया सहारे पड़ी तारे ही गिना करे।

['आदर्श', मासिक, कलकत्ता, पौष और माघ, संवत् 1979 वि. (दिसम्बर, 1922—जनवरी, 1923 और जनवरी, 1923—फरवरी, 1923)। असंकलित कविताएँ मे संकलित]

तुम हमारे हो

नहीं मालूम क्यों यहाँ आया
ठोकरें खाते हुए दिन बीते।
उठा तो पर न सँभलने पाया
गिरा व रह गया आँसू पीते॥ 1 ॥

ताब बेताब हुई हठ भी हटी
नाम अभिमान का भी छोड़ दिया।
देखा तो थी माया की डोर कटी
सुना व' कहते हैं, हाँ खूब किया॥ 2 ॥

पर अहो पास छोड़ आते ही
वह सब भूत फिर सवार हुए।
मुझे गफलत में ज़रा पाते ही
फिर वही पहले के से वार हुए॥ 3 ॥

एक भी हाथ सँभाला न गया
और कमज़ोरों का बस क्या है।
कहा—निर्दय, कहाँ है तेरी दया,
मुझे दुख देने में जस क्या है॥ 4 ॥

रात को सोते य' सपना देखा,
कि व' कहते हैं "तुम हमारे हो।

भला अब तो मुझे अपना देखा,
कौन कहता है कि तुम हारे हो ॥ 5 ॥

अब अगर कोई भी सताये तुम्हें
तो मेरी याद वहीं कर लेना।
नजर क्यों काल ही न आये तुम्हे
प्रेम के भाव तुर्त भर लेना" ॥ 6 ॥

['समन्वय', मासिक, कलकत्ता, सौर फाल्गुन, संवत् 1979 वि. (फरवरी-मार्च, 1923)। असंकलित कविताएँ में संकलित]

अधिवास

कहाँ—
मेरा अधिवास कहाँ ?

क्या कहा ?—रुकनी है गति जहाँ ?
भला इस गति का शेष
सम्भव है क्या,
करुण स्वर का जब तक मुझमे रहता है आवेश ?

मैंने 'मैं' - शैली अपनायी,
देखा दुखी एक निज भाई।
दुख की छाया पड़ी हृदय में मेरे,
झट उमड़ वेदना आयी।

उसके निकट गया मैं धाय,
लगाया उसे गले से हाय !
फँसा माया मे हूँ निरुपाय,
कहो, कैसे फिर गति रुक जाय ?

उसकी अश्रु-भरी आँखों पर मेरे करुणाञ्चल का स्पर्श
करता मेरी प्रगति अनन्त, किन्तु तो भी मैं नहीं विमर्ष;

छूटता है यद्यपि अधिवास,
किन्तु फिर भी न मुझे कुछ त्रास।

['माधुरी', मासिक, लखनऊ, 23 अप्रैल, 1923। पहले प्रथम अनामिका में, फिर परिमल में संकलित]

प्रकाश

रोक रहे हो जिन्हें
नहीं अनुराग—मूर्ति वे
किसी कृष्ण के उर की गीता अनुपम ?

और लगाना गले उन्हें
जो धूल-धूसरित खड़े हुए हैं—
कबसे प्रियतम, है भ्रम ?

हुई दुई में अगर कहीं पहचान
तो रस भी क्या—
अपने ही हित का गया न जब अनुमान ?

है चेतन का आभास
जिसे, देखा भी उसने कभी किसी को दास ?

नहीं चाहिए ज्ञान
जिसे, वह समझा कभी प्रकाश ?

[रचनाकाल : 6 जून, 1923। 'मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 22 सितम्बर, 1923 में प्रकाशित ('दिव्य प्रकाश' शीर्षक से)। द्वितीय अनामिका में संकलित]

तुम और मैं

तुम तुंग - हिमालय - शृंग
और मैं चंचल-गति सुर-सरिता।
तुम विमल हृदय उच्छ्वास
और मैं कान्त-कामिनी-कविता।
तुम प्रेम और मैं शान्ति,
तुम सुरा-पान-घन अन्धकार,
मैं हूँ मतवाली भ्रान्ति।
तुम दिनकर के खर किरण-जाल,
मैं सरसिज की मुस्कान,
तुम वर्षों के बीते वियोग,
मैं हूँ पिछली पहचान।
तुम योग और मैं सिद्धि,
तुम हो रागानुग निश्छल तप,
मैं शुचिता सरल समृद्धि,
तुम मृदु मानस के भाव
और मैं मनोरंजिनी भाषा,
तुम नन्दन-वन-घन विटप
और मैं सुख-शीतल-तल शाखा।
तुम प्राण और मैं काया,
तुम शुद्ध सच्चिदानन्द ब्रह्म
मैं मनोमोहिनी माया।
तुम प्रेममयी के कण्ठहार,
मैं वेणी काल - नागिनी,
तुम कर-पल्लव-झंकृत सितार,
मैं व्याकुल विरह - रागिनी।
तुम पथ हो, मैं हूँ रेणु,
तुम हो राधा के मनमोहन,
मैं उन अधरों की वेणु।
तुम पथिक दूर के श्रान्त
और मैं बाट - जोहती आशा,
तुम भवसागर दुस्तर
पार जाने की मैं अभिलाषा।

तुम नभ हो, मैं नीलिमा,
तुम शरत्-काल के बाल-इन्दु
मैं हूँ निशीथ - मधुरिमा।
तुम गन्ध-कुसुम-कोमल पराग,
मैं मृदुगति मलय - समीर,
तुम स्वेच्छाचारी मुक्त पुरुष,
मैं प्रकृति, प्रेम - जंजीर।
तुम शिव हो, मैं हूँ शक्ति,
तुम रघुकुल - गौरव रामचन्द्र,
मैं सीता अचला भक्ति।
तुम आशा के मधुमास,
और मैं पिक-कल-कूजन तान,
तुम मदन - पंच - शर - हस्त
और मैं हूँ मुग्धा अनजान!
तुम अम्बर, मैं दिग्वसना,
तुम चित्रकार, घन-पटल-श्याम,
मैं तडित् तूलिका रचना।
तुम रण-ताण्डव-उन्माद नृत्य
मैं मुखर मधुर नूपुर-ध्वनि,
तुम नाद - वेद ओंकार - सार,
मैं कवि - शृंगार शिरोमणि।
तुम यश हो, मैं हूँ प्राप्ति,
तुम कुन्द - इन्दु - अरविन्द-शुभ्र
तो मैं हूँ निर्मल व्याप्ति।

['माधुरी', मासिक, लखनऊ, 20 जुलाई, 1923। पहले प्रथम अनामिका में, फिर परिमल में संकलित]

पंचवटी-प्रसंग : 1

सीता—आती है याद उस दिन की
प्रियतम !
जिस दिन हमारी पुष्प-वाटिका में
पुष्पराज !

बाल-रवि-किरणों से हँसते नव नीलोत्पल !
साथ लिये लाल को
घूमते समोद थे नयन-मनोरम तुम।
उससे भी सुन्दर क्या नही यह दृश्य नाथ ?
वहाँ की वह लता-कुंज मञ्जु थी
या यहाँ उस विटप विशाल पर
फैली हुई मालती का शीतल तल सुन्दर है ?
मैं तो सोचती हूँ, वहाँ बन्दिनी थी
और यहाँ खेलती हूँ मुक्त खेल,
साथ हो तुम,
और कहाँ इतना सुअवसर मुझे मिल सकता है ?
और कहाँ पास बैठ देखती मैं
चञ्चल तरंगिणी की तरल तरंगों पर
सुर-ललनाओं के चारु चरण—चपल नृत्य ?
और कहाँ सुनती मैं
सुखद समीरण में विहग-कल-कूजन-ध्वनि—
पत्रों के मर्मर मे मधुर गन्धर्वगान ?
और कहाँ पाती मैं
निर्मल-विवेक-ज्ञान-भक्ति-दीप्ति
आश्रम-तपोवन छोड़ ?

राम—छोटे-से घर की लघु सीमा मे
बँधे है क्षुद्र भाव,
यह सच है प्रिय,
प्रेम का पयोधि तो उमड़ता है
सदा ही निःसीम भू पर।
प्रेम की महोर्मि-माला तोड़ देती क्षुद्र ठाट,
जिसमें संसारियों के सारे क्षुद्र मनोवेग
तृण-सम बह जाते है।
हाथ मलते भोगी,
धड़कते है कलेजे उन कायरो के,
सुन-सुन प्रेम-सिन्धु का
सर्वस्व-त्याग-गर्जन-घन।
अट्टहास हँसता प्रेम-पारावार
देख भय-कातर की दृष्टि मे
प्रार्थना की मलिन रेखा,
तट पर चुपचाप खड़ा

हाथ जोड़ मोह-मुग्ध
डरता है गोते लगाते प्रेम-सागर में,
जीवनाशा पैदा करती है सन्देह
जिससे सिकुड़ जाता सारा अंग,
याद कर प्रेम-वाड़वाग्नि की प्रचण्ड ज्वाला,
फेरता है पीठ वह,
दिव्य देहधारी ही कूदते हैं इसमें प्रिये,
पाते हैं प्रेमामृत,
पीकर अमर होते हैं।
मैं भी, सच कहता हूँ, मुनियों में
पाता हूँ जैसा अपूर्व प्रेम
वैसा कभी आज तलक कहीं नहीं पाया है।
राजभवन राजस-प्रभाव-भरे
रम्योद्यान से भी मुझे
बढ़कर प्रतीत होती
वनस्थली चारुचित्रा।

सीता—भूलती नहीं हैं एक क्षण भी अनसूया देवी।
चलने लगी मैं जब पैरों पड़ी,
स्नेह से उठाकर मुझे—
अहा, वह सुखद स्पर्श—
कहने लगी—'सीता, तू जानती है
क्या है सतियों के गुण तो भी कहूँ।'
सादर समझाये सतियों के गुण सारे मुझे,
गोद में बिठाके, वह कैसा प्यार—निश्छल,
निष्काम—नहीं भूलता है एक क्षण।

राम—मुझे भी भरत की याद प्रिये, सदा आती है।

सीता—अहा, वह भक्ति-भाव-भूषित मुख विनय-नम्र!

(लक्ष्मण का प्रवेश)

लक्ष्मण—अर्चना के लिए आर्य!
बिल्वदल-गन्ध-पुष्प-मालाएँ
रक्खी हैं कुटीर में, देर हुई।

राम—हाँ लाल, चलते हैं।

सीता—और लाल मेरे, लाओ फूल मालती के,
गूँथकर माला स्वयं
सती-शिरोरत्न के

पद-युगल-कमलों में
अर्पण करूँगी मैं।

(लक्ष्मण का प्रस्थान)

कितना सुबोध है !
आज्ञा-पालन के सिवा कुछ भी नही जानता,
आता है सामने तो झुका सिर
दृष्टि चरणों की ओर रखता है,
कहता है बालक-इव, क्या है आदेश माता ?
राम—पाये हैं इसने गुण सारे मा सुमित्रा के;
वैसा ही सेवाभाव, वैसा ही आत्मत्याग,
वैसी ही सरलता, वैसी पवित्र कान्ति।
त्रुटि पर ज्यों बिजली-सी टूटती सुमित्रा मा,
शत्रु पर त्यों सिंह-सा झपटता है लखनलाल,
देखा नही कोप इसका परशुधर प्रसंग में ?
अथवा वन-गमन-समय ?
किंवा जब आये भरत चित्रकूट पर्वत पर ?
कितनी भक्ति मुझ पर है
यह तो जानती ही हो।

पंचवटी-प्रसंग : 2

लक्ष्मण—जीवन का एक ही अवलम्ब है सेवा;
है माता का आदेश यही,
मा की प्रीति के लिए ही चुनता हूँ सुमन-दल,
इसके सिवा कुछ भी नही जानता —
जानने की इच्छा भी नहीं है कुछ।
माता की चरण-रेणु मेरी परम शक्ति है—
माता की तृप्ति मेरे लिए अष्ट सिद्धियाँ—
माता के स्नेह-शब्द मेरे सुख-साधन हैं।
धन्य हूँ मैं;
जिनके कटाक्ष से करोड़ों शिव-विष्णु-अज
कोटि-कोटि सूर्य—चन्द्र-तारा-ग्रह
कोटि-इन्द्र-सुरासुर—

जड़-चेतन मिले हुए जीव-जग
बनते-पलते है,—नष्ट होते हैं अन्त में—
सारे ब्रह्माण्ड के जो मूल में विराजती हैं
आदि-शक्ति-रूपिणी,
शक्ति से, जिनकी शक्तिशालियों में सत्ता है—
माता हैं मेरी वे।
जिनके गुण गाकर भवसिन्धु पार करते नर,
प्रणव से लेकर प्रतिमन्त्र के अर्थ में
जिनके अस्तित्व की ही
दीखती है दृढ छाप
माता है मेरी वे।
नारियों की महिमा—सतियों की गुण-गरिमा में
जिनके समान जिन्हें छोड़ कोई और नही,
माता हैं मेरी वे।
सलिल-प्रवाह में ज्यों बहता शैवाल-जाल
गृह-हीन, लक्ष्य-हीन, यन्त्र-तुल्य,
किन्तु परमात्मा की प्रेममयी प्रेरणा मे
मिलता है अन्त मे असीम महासागर से
हृदय खोल—मुक्त होना,
मैं भी त्यो त्यागकर सुखाशाएँ,—
घर-द्वार—धन-जन,
बहता हूँ माता के चरणामृत-सागर में,
मुक्ति नही जानता मैं, भक्ति रहे, काफी है।
सुधाधर की कला में अंशु यदि बनकर रहूँ,
तो अधिक आनन्द है;
अथवा यदि होकर चकोर कुमुद नैश गन्ध
पीता रहूँ सुधा इन्दु-सिन्धु से बरसती हुई,
तो सुख मुझे अधिक होगा ?
इसमें सन्देह नही,
आनन्द बन जाना हेय है,
श्रेयस्कर आनन्द पाना है,
मानस-सरोवर के स्वच्छ वारि-कण-समूह
दिनकर-कर-स्पर्श से
सूक्ष्माकार होते जब—
धरते अव्यक्त रूप
कुछ काल के लिए नील नभोमण्डल में

लीन-से हो जाते हैं—गाते अव्यक्त राग,
किन्तु क्या आनन्द उन्हे मिलता है, वे जानें !
इधर तो यह स्पष्ट है कि
वही जब पाते हैं जलद-रूप—
प्रगति की फिर से जब सूचना दिखाते है,—
जीवन का बालकाण्ड शुरू होता,—
क्रीडा से कितने ही रंग वे बदलते हैं
शिखर पर,—व्योम-पथ मे,
नाचते-थिरकते है,—किलकते,—गीत गाते हैं,—
कोमल कपोल श्याम चूमता जब मन्द मलय,—
भर जाता हृदय आनन्द से—
बूंदों से सींचती उच्छ्वास-सलिल
मानस-सरोवर-वृक्ष,—स्मरण कर पूर्व-कथा,
देखकर कौतुक तब खिले हुए कमल कुल
गले डाल लेते हैं मोतियों की माला एक
मन्द मुस्किराते हुए।
अतएव ईश्वर से सदा ही मैं मनाता हूँ,
'परमात्मन्, मनस्काम-कल्पतरु तुम्हें लोग कहते हैं,
पूरे करते हो तुम सबके मनोभिलाष,
यदि प्रभो, मुझ पर सन्तुष्ट हो,
तो यही वर मैं माँगता हूँ,
माता की तृप्ति पर
बलि हो शरीर-मन
मेरा सर्वस्व-सार;
तुच्छ वासनाओं का
विसर्जन मैं कर सकूँ;
कामना रहे, तो एक
भक्ति की बनी रहे।'
चलूँ अब, चुन लिये प्रसून,
बड़ी देर हुई।

पंचवटी-प्रसंग : 3

शूर्पनखा—देव-दानवों ने मिल
मथकर समन्दर को निकाले थे चौदह रत्न;
सुनती हूँ,—
रम्भा और रमा ये दो नारियाँ भी निकली थी,
कहते लोग, सुन्दरी हैं;
किन्तु मुझे जान पड़ता,—
सृष्टि-भर की सुन्दर प्रकृति का सौन्दर्य-भाग
खींचकर विधाता ने भरा है इस अंग मे,—
प्यार से—
अन्यथा उस बूढ़े विधि शिल्पी की
कँपती हुई अँगुलियाँ बिगाड़ देती चित्र यह—
धूल में मिल जाती चतुराई चित्रकार की;
और यह भी सत्य है कि
ऐसी ललाम वामा चित्रित न होगी कभी;
रानी हूँ,
प्रकृति मेरी अनुचरी है;
प्रकृति की सारी सौन्दर्य-राशि लज्जा से
सिर झुका लेती जब देखती है मेरा रूप—
वायु के झकोरे से वन की लताएँ सब
झुक जाती,—नजर बचाती है,—
अञ्चल से मानो छिपाती मुख
देख यह अनुपम स्वरूप मेरा।
बीच-बीच पुष्प गुँथे किन्तु तो भी बन्ध-हीन
लहराते केश-जाल, जलद-श्याम से क्या कभी
समता कर सकती है
नील-नभ तड़ित्तारकाओं का चित्र ले
क्षिप्रगति चलती अभिसारिका यह गोदावरी ?—
हरगिज नही।
कवियों की कल्पना तो
देखती ये भौएँ बालिका-सी खड़ी—
छूटते हैं जिनसे आदिरस के सम्मोहन-शर
वशीकरण-मारण-उच्चाटन भी कभी-कभी।
हारे है सारे नेत्र नेत्रों को हेर-हेर—

विश्व-भर को मदोन्मत्त करने की मादकता
भरी है विधाता ने इन्हीं दोनों नेत्रों मे।
मीन-मदन फांसने की वंशी-सी विचित्र नासा,—
फूलदल-तुल्य कोमल लाल ये कपोल गोल,—
चिबुक चारु और हँसी बिजली-सी,—
योजन-गन्ध-पुष्प-जैसा प्यारा यह मुखमण्डल,—
फैलते पराग दिङ्मण्डल आमोदित कर,—
खिंच आते भौंरे प्यारे।
देख यह कपोत-कण्ठ
बाहु-वल्ली कर-सरोज
उन्नत उरोज पीन—क्षीण कटि—
नितम्ब-भार—चरण सुकुमार—
गति मन्द-मन्द,
छूट जाता धैर्य ऋषि-मुनियों का;
देवों—भोगियों की तो बात ही निराली है।
पैरों पड़ते हैं बड़े-बड़े वीर,
माँगते कृपा की भिक्षा,
हाथ जोड़ कहते हैं, 'सुन्दरी ! अब कृपा करो,'
पर मैं विजय-गर्व से
विजितों, पद-पतितों पर
डाल अवज्ञा की दृष्टि
फेर लेती चन्द्रानन विश्वजयी !
क्या ही आश्चर्य है !
कुछ दिन पहले तो यहाँ न थी यह अपूर्व शोभा,
निर्मम कठोर प्रकृति त्रस्त किया करती प्राण,
मरु-भूमि-सी थी जगह,
उड़ती उत्तप्त धूलि—झुलसाती थी शरीर
पथिकों को देती थी कठोर दण्ड
चण्ड मार्त्तण्ड की सहायता से।
और आज कितना परिवर्तन है !
हत्याएँ हजार जिन हाथों ने की होंगी
सेवा करते हैं वहाँ हृदय के कपाट खोल
मीठे फल, शीतल जल लेकर बड़े चाव से।
जहाँ मे हुआ है नव-जीवन-सञ्चार, धन्य !
इच्छा होती है, इन
सखी-कलियों के संग

गाऊँ मैं अनूठे गीत प्रेम-मतवाली हो,
फूलों से खेलूँ खेल,
गूँथकर पुष्पाभरण पहनूँ,
हार फूलों के डालूँ गले।

(फूलों से सजती है)

अरे ! क्या वह कुटीर है ?
आया क्या मुनि कोई !
बढ़कर जरा देखूँ तो
कौन यहाँ आया है मूर्ख प्राण देने को।

पंचवटी-प्रसंग : 4

लक्ष्मण—प्रलय किसे कहते हैं ?
राम—मन, बुद्धि और अहंकार का लय प्रलय है।
लक्ष्मण—कैसे यह प्रलय होता है, कहो देव !
राम—व्यष्टि औ' समष्टि में नहीं है भेद,
भेद उपजाता भ्रम—
माया जिसे कहते है।
जिस प्रकाश के बल से
सौर ब्रह्माण्ड को उद्भासमान देखते हो
उससे नहीं वञ्चित है एक भी मनुष्य भाई !
व्यष्टि औ' समष्टि में समाया वही एक रूप,
चिद्घन आनन्द-कन्द।
आती जिज्ञासा जिज्ञासु के मस्तिष्क मे जब—
भ्रम से बच भागने की इच्छा जब होती है—
चेतावनी देती जब चेतना कि छोड़ो खेल,
जागता है जीव तब,
योग सीखता है वह योगियो के साथ रह,
स्थूल से वह सूक्ष्म, सूक्ष्मातिसूक्ष्म हो जाता;
मन, बुद्धि और अहङ्कार से है लड़ता जब
समर मे दिन दूनी शक्ति उसे मिलती है।
क्रम-क्रम से देखता है
अपने ही भीतर वह

सूर्य-चन्द्र-ग्रह-तारे
और अनगिनत ब्रह्माण्ड-भाण्ड।
देखता है स्पष्ट तब,
उसके अहङ्कार में समाया है जीव-जग;
होता है निश्चय ज्ञान—
व्यष्टि तो समष्टि से अभिन्न है;
देखता है, सृष्टि-स्थिति-प्रलय का
कारण-कार्य भी है वही—
उसकी इच्छा है रचना-चातुर्य में
पालन-संहार में।
अस्तु भाई, हैं वे सब प्रकृति के गुण।
सच है, तब प्रकृति उसे सर्वशक्ति देती है—
अष्ट सिद्धियाँ, वह
सर्वशक्तिमान् होता;
इसे भी जब छोड़ता वह,
पार करता रेखा जब समष्टि-अहंकार की—
चढ़ता है सप्तम सोपान पर,
प्रलय तभी होता है,
मिलता वह अपने सच्चिदानन्द रूप से।
लक्ष्मण—तो सृष्टि फिर से किस प्रकार होती है?
राम—जिनकी इच्छा से संसार मे संसरण होता—
चलते-फिरते है जीव,
उन्हीं की इच्छा फिर सृजती है सृष्टि नयी।
उसके लिए तात देखो,
क्या है अकार्य यहाँ?
मुक्त जो हो जाता है
फिर नही वह लौटता।
बची रहती है जो अनन्त कोटि सृष्टि की
प्रकृति करती है क्रीड़ा उसे ले अनन्तकाल।
अस्तु, है यह अन्य भाव;
सौर ब्रह्माण्ड के है प्रलय पर तुम्हारा प्रश्न।
सुनो भाई,
जिस प्रकार व्यष्टि एक धरती है सूक्ष्म रूप
वैसे ही समष्टि का भी
सूक्ष्म भाव होता है।

रहते आकाश मे हैं
प्रकृति के तब सारे बीज।
और यह भी सत्य है कि
प्रकृति के तीनो गुण सम तब हो जाते है—
सीता—यह है बड़ा जटिल भाव,
भक्ति-कथा कहो नाथ!
राम—भक्ति-कर्म-योग-ज्ञान एक ही हैं
यद्यपि अधिकारियों के निकट भिन्न दीखते है।
एक ही है, दूसरा नही है कुछ—
द्वैतभाव ही है भ्रम।
तो भी प्रिये,
भ्रम के ही भीतर से
भ्रम के पार जाना है।
मुनियों ने मनुष्यो के मन की गति
सोच ली थी पहले ही।
इसीलिए द्वैतभाव-भावुकों में
भक्ति की भावना भरी—
प्रेम के पिपासुओं को
सेवाजन्य प्रेम का
जो अति ही पवित्र है,
उपदेश दिया।
सेवा से चित्त-शुद्धि होती है।
शुद्ध चित्तात्मा मे उगता है प्रेमांकुर।
चित्त यदि निर्मल नही,
तो वह प्रेम व्यर्थ है—
पशुता की ओर है वह खीचता मनुष्य को।
सीता—देखो नाथ, आती है नारी एक।
राम—बैठो भी, आने दो।

मेरे साथ--मेरे वन
चलो तुम,
बिठाऊँगी स्वर्ग के सिंहासन पर तुम्हें सखे !
कुछ भी अप्राप्य नहीं
सर्वसुख भोगोगे पुरुषोत्तम !
स्वर्ग के राजाधिराज तुम होगे
और मैं राजरानी;
पारिजात-पुष्प के नीचे बैठ सुनोगे तुम
कोमल-कण्ठ-कामिनी की सुधा-भरी असावरी।
भ्रमर-भार-कम्पित यह यूथिका झुकेगी जब—

राम—सुन्दरी, विवाहित हूँ,
देखो, यह पत्नी है।
जाओ तुम उनके पास,
वे हैं कुमार और सुन्दर भी।

लक्ष्मण—सुन्दरी, मैं दास हूँ उनका,
और वे हैं महाराज कोशल-पति,
एक क्या, अनेक ब्याह कर सकते चाहे तो,
सेवक हूँ उनका मैं
मुझसे सुखाशा आकाश-कुसुम-तुल्य है।

शूर्पनखा—(राम से) मेरे योग्य तुम्हीं हो।

राम—देखो तो उन्हें जरा,
कितने वे सुन्दर हैं—हेमकान्ति।

शूर्पनखा—(लक्ष्मण से) मेरे हृदय-दर्पण में
प्रेम का प्रतिबिम्ब तव
कितना सुहावना है—कितना सुदर्शन,
तुम देख लो !

लक्ष्मण—दूर हट नीच नारी !

शूर्पनखा—(राम से) धिक् है नराधम तुझे,
वञ्चक कहीं का शठ,
विमुख किया तूने उसे
आयी जो तेरे पास
चाव से
अर्पण करने के लिए जीवन-यौवन नवीन।
निश्छल मनोहर श्याम काम-कमनीय देख
सोचा था मैंने,

तू काम-कला-कोविद
कोई रसिक अवश्य होगा।
मैं क्या जानती थी
यह काम की नहीं है
किन्तु विष की है श्यामना ? —
कूट-कूटकर इसमें
भरा है हलाहल घोर ?
सोचा था गुलाब जिसे
निकला छि: जगली निर्गन्ध कुसुम।
तप्त मरुभूमि की
मृगी का-सा हुआ भ्रम।
दगा दिया तूने ज्यों
त्यों ही फल भोगेगा इसका तू शीघ्र ही।
दम मे दम जब तक है,
काल-नागिनी-सी मैं लगी रहूंगी घात मे।
तुझे भी रुलाऊँगी,
जैसा है रुलाया मुझे।

राम—अभी तो रुलाया नहीं,
इच्छा यदि है तो तू
(लक्ष्मण को इशारा)

लक्ष्मण—रो अब जी खोलकर !
(नाक-कान काटते हैं)

[पहले प्रथम अनामिका मे, फिर परिमल में संकलित]

सच्चा प्यार

[1]

मलिन मानस में तेरी छाप,
छा गयी श्याम दृगों पर घटा;
विरह के बादल घेरे घोर
चमकती स्मृति-बिजली की छटा।

[2]

हृदय के अन्तस्तल का प्यार,
लोक-लोचन न पहुँचते जहाँ,
कलेजे को अब करता पार,
छिपावे भी तो कैसे ? कहाँ ?

[3]

तुम्हारी सुधि की अन्तिम साँस
लोक-लज्जा का परदा फाड़
खेलने चली प्रीति-अभिसार
चपल छिपती पलकों की आड़।

[4]

पहुँचते ही आँखों के पास
लगा मेघों का झोका एक,
विरह-कृश होती चकनाचूर
अगर लेते न उरो तुम देख।

[5]

काँपती हुई गिरी अनजान,
उमड़ आयी सावन-जल-धार
सींचते आँसू ललित कपोल,
छटा दिखलाती सच्चा प्यार!

[6]

फूल सी धुलकर निर्मल हुई
मिटी प्यारी की पिछली छाँह,
आह भर खोले उसने नेत्र
गले में थी प्रियतम की बाँह!

[पहले प्रथम अनामिका में, फिर असंकलित कविताएँ में संकलित]

लज्जिता

मुझे क्यों नहीं जगाया नाथ !

[1]

मैं विलास-उपवन में आयी देख निराला रंग
पिया प्रेम का प्याला मेरा हुआ शिथिल सब अंग,
हुईं मदमाती पलकें बन्द,
बजा तव वर विहाग का छन्द,
सुनते सोयी मैं सुहाग-निशि का हो गया प्रभात !
मुझे क्यों नहीं जगाया नाथ !

[2]

बिखर गये ये बाल देख करते हैं सरसिज व्यंग,—
झड़े हुए ये हर-सिंगार भी क्या न जमाते रंग ?
लाज ने जकड़ लिये हैं पैर,
करूँगी अब न बाग की सैर,
जान गये सब लोग, किया यह छल क्यों मेरे साथ ?
मुझे क्यों नहीं जगाया नाथ !

[पहले प्रथम अनामिका मे, फिर असंकलित कविताएँ मे संकलित]

जलद के प्रति

जलद नहीं,—जीवनद, जिलाया
जब कि जगज्जीवन्मृत को।
तपन - ताप - सन्तप्त तृषातुर
तरुण - तमाल - तलाश्रित को।
पय - पीयूष - पूर्ण पानी से
भरा प्रीति का प्याला है।
नव वन, नव जन, नव तन, नव मन,
नव धन ! न्याय निराला है।

भौंऐं तान दिवाकर ने जब
भू का भूषण जला दिया,
मा की दशा देखकर तुमने
तब विदेश प्रस्थान किया।
वहाँ होशियारों ने तुमको
खूब पढ़ाया, बहकाया,
'द' जोड़ ग्रेड बढ़ाया, तुम पर
जाल फूट का फैलाया।
'जल' से 'जलद' कहा, समझाया
भेद तुझे ऊँचे बैठाल,
दायें - बायें लगे रहे, जिसमें
तुम भूलो जाती ख्याल,
किन्तु तुम्हारे चारु चित्त पर
खिची सदा मा की तस्वीर,
क्षीण हुआ मुख, छलक रहा
नलिनी-दल-नयनों से दुख-नीर।
पवन शत्रु ने तुम्हें उतरते देख
उड़ाया पथ - अम्बर,
पर तुम कूद पड़े, पहनाया
मा को हरा वसन सुन्दर;
धन्य तुम्हारे भक्ति - भाव को
दुःख सहे, डिगरी खोयी,
ऊर्ध्वग जलद ! बने निमग्न जल,
प्यारे प्रीति - बेलि बोयी !

['समन्वय', मासिक, कलकत्ता, सौर श्रावण, संवत् 1980 वि. (जुलाई-अगस्त, 1923), ('जलद' शीर्षक से)। पहले प्रथम अनामिका में, फिर परिमल में संकलित]

रक्षा-बन्धन (2)

बढ़ गयी शोभा सखी सावनी सलोनी हुई
बड़े भाग्य भारत के गये दिन आये फिर !
'रक्षा' से बँधे हैं भारतीयों के कोमल कर;
मंगल मनाती क्यों न, रहा क्यों कलेजा चिर ?

तारों इन सुनहलों के आगे सितारे मात
अथवा प्रकाश रहा बादल-दलों से घिर ?
देख करतूत ऐसी वीरवर सपूतों की
भारत का गर्व से उठेगा या झुकेगा सिर ?

कंगालों का कत्ल अहो इस 'राखी' के रँग मे छिपा,
भूत, भविष्यत्, वर्तमान है दीनों का तीनों लिया !

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 26 अगस्त, 1923। असंकलित कविताएँ मे संकलित]

गये रूप पहचान

सुनी राष्ट्रभाषा की जब से भव्य मनोहर तान।
मिटी मोह-माया की निद्रा गये रूप पहचान ॥

छिपी छुरी नीचों के छल में,
देख दम्भ दुष्टों के दल मे,
बढ़ आगे, हो सजग मेट तू क्षण मे नाम-निशान।
मिटी मोह-माया की निद्रा गये रूप पहचान ॥ 1 ॥

चूम चरण मत चोरों के तू,
गले लिपट मत गोरों के तू,
झटक पटक झंझट को झटपट झोंक भाड़ मे मान।
मिटी मोह-माया की निद्रा गये रूप पहचान ॥ 2 ॥

खल-दल-बल दलदल में धसका,
गा गौरव-गरिमा गुण-यश का,
क्या किसका, गर तू उकसाता अपना प्राण महान ?
मिटी मोह-माया की निद्रा गये रूप पहचान ॥ 3 ॥

आप आप कर अब न अपर को,
बना बाप मत वंचक नर को,

अगर उतरना पार चाहता दिया शक्ति बलवान।
मिटी मोह-माया की निद्रा गये रूप पहचान॥ 4॥

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 8 सितम्बर, 1923। असंकलित कविताएँ में संकलित]

नयन

मद - भरे ये नलिन - नयन मलीन हैं;
अल्प-जल में या विकल लघु मीन हैं?
या प्रतीक्षा में किसी की शर्वरी
बीत जाने पर हुए ये दीन हैं?

या पथिक से लोल-लोचन! कह रहे—
"हम तपस्वी हैं, सभी दुख सह रहे।
गिन रहे दिन ग्रीष्म - वर्षा - शीत के;
काल - ताल - तरंग में हम बह रहे।

मौन है, पर पतन मे—उत्थान मे,
वेणु - वर - वादन - निरत - विभु - गान मे
है छिपा जो मर्म उसका, समझते;
किन्तु फिर भी हैं उसी के ध्यान में।

आह! कितने विकल-जन-मन मिल चुके;
हिल चुके, कितने हृदय हैं खिल चुके।
तप चुके वे प्रिय - व्यथा की आँच मे;
दु:ख उन अनुरागियों के झिल चुके।

क्यों हमारे ही लिए वे मौन है?
पथिक, वे कोमल कुसुम है—कौन है?"

['मतवाला,' साप्ताहिक, कलकत्ता, 29 सितम्बर, 1923। परिमल में संकलित]

चुम्बन

लहर रही शशिकिरण चूम निर्मल यमुना-जल,
चूम सरित की सलिल-राशि खिल रहे कुमुद दल।
कुमुदों के स्मिति-मन्द खुले वे अधर चूमकर
बही वायु स्वच्छन्द, सकल पथ घूम-घूमकर।

है चूम रही इस रात को वही तुम्हारे मधु अधर
जिनमें हैं भाव भरे हुए सकल-शोक-सन्तापहर।

['मतवाला,' साप्ताहिक, कलकत्ता, 6 अक्तूबर, 1923। द्वितीय अनामिका में संकलित]

गरीबों की पुकार

हमारे ईश हैं बस वे खड़े मैदान में जो है
न बदलेंगे कभी हमसे अड़े इक शान में जो हैं
नहीं वे ईश कहलाते बड़ अभिमान में जो है,
चढ़े पर वे गिरेंगे ही पड़े अज्ञान मे जो हैं॥ 1 ॥

वही निर्झर, विषम वर्षा-सलिल-संचार मे बढ़कर
प्रलय का-सा अनय जो कर गया संसार मे बढ़कर,
तड़पता है पड़ा, सूरज उगलता आग जब उस पर,
कलेजा थामकर कहता, 'गरीबों पर रहम अब कर' ॥ 2 ॥

लगायेंगे वही बेड़ा हमारा पार दुनिया में
हमें जिनका हमारा भी जिन्हें है प्यार दुनिया में ॥ 3 ॥

['मतवाला,' साप्ताहिक, कलकत्ता, 6 अक्तूबर, 1923। असंकलित कविताएँ में संकलित]

उसकी स्मृति

मृदु सुगन्ध-सी कोमलदल फूलों की;
शशि-किरणों की-सी वह प्यारी मुसकान,
स्वच्छन्द गगन-सी मुक्त, वायु-सी चञ्चल;
खोयी स्मृति की फिर आयी-सी पहचान;

लघु लहरों की-सी चपल चाल वह चलती
अपने ही मन से निर्जन वन की ओर,
चकित हुई चितवन वह मानो कहती—
मैं ढूंढ़ रही हूँ उस अजान का छोर।

बन्द पवन के झोंकों से लहराते काले बाल
कवियों के मानस की मृदुल कल्पना के-से जाल,

वह विचर रही थी मानस की प्रतिमा-सी
उतरी इस जगती - तल मे,
वन के फूलों को चुनकर बड़े चाव से
रखती थी लघु अञ्चल में;

यों उस सरलता-लता मे
सब फूल आप लग जाते,
अनुपम शोभा पर उसकी
कितने न भँवर मँडलाते!
उसके गुण गानेवाले
खग जीते थे मृदु उड़कर,
मधु के, मद के प्यासो के
पर उसने कतरे थे पर।

क्या जाने उसने किसको पहनायी थी
अपने फूलों की अपनी सुन्दर माला,
क्या जाने किसके लिए यहाँ आयी थी
वह सुर-सरिता-सैकत-सी गोरी बाला?

वह भटक रही थी वन में मारी-मारी
या मिला उसे क्या उसका वही अनन्त?
वह कली सदा को चली गयी दुनिया से,
पर सौरभ से है पूरित आज दिगन्त!

['मतवाला,' साप्ताहिक, कलकत्ता, 13 अक्तूबर, 1923 ('उसकी स्मृति मे' शीर्षक से)। परिमल मे सकलित]

कविप्रिया
(विजया की भेंट)

[1]

लहर रहा नभ चूम चूम आगे वह सागर,
जल भरने कवि सरल चला ले छोटा गागर,
मचल गया मन देख निरा छोटा घट अपना,
उधर उमडता प्रबल जलधिजल, इधर कल्पना;
घट छोटा था उसका सही, मन का वह छोटा न था,
उच्चाकांक्षाओं से भरे भावों का टोटा न था।

[2]

झरने की अविराम झड़ी-सी रहे लगाते—
कवितामय कविनेत्र सदा आंसू बरसाते,
धोकर युगल कपोल हृदय कन्दर से होकर
मर्मस्थल की प्रकट व्यथा-सी मानो रोकर;
वह उतरा प्राकृत भूमि में छोड कल्पना-वेदना;
था नयन-सलिल से मिला घट पूरित और सुहावना!

[3]

भरा हुआ यों सरस सलिल से गागर पाया,
और समाया विमल उसी में सागर पाया।
भावभरा घट छलक छलक कर रह जाता था,
कविता के पद मधुर, न जाने, कह जाता था!
घन मण्डल की छाया न थी उसमें श्याम पड़ी हुई।
काले बालों को खोलती कविता आप खड़ी हुई।

[4]

क्या केवल वह सलिल? नहीं, कवि का दर्पण था
बिम्बित जिसमें सर्वचराचर का जीवन था।
जलदजाल को चीर झरोखे में से शशधर
झांक रहा था चंचल चितवन से जनमन-हर;
या चन्द्रमुखी पटपट उलट कवि चकोर को मोहनी
या कवि भी उसको जोहता वह भी कवि को जोहनी।

[5]

जल की बूँदें गूँथ उसे पहनायी माला,
मोती का सा साज सभी लड़ियों में आला;
बदले में ले अधर सुधारस-सिंचित प्याला,
जीवन भर वह अमृत पिया बनकर मतवाला।
हाँ, एक बिन्दु मे ही उसे सुधासिन्धु दिखला दिया
उसने जो कहलाती सदा कविता कवियों की प्रिया।

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 20 अक्तूबर, 1923। **असंकलित कविताएं मे संकलित**]

विधवा

यह इष्टदेव के मन्दिर की पूजा-सी
वह दीप-शिखा-सी शान्त, भाव मे लीन,
वह क्रूर काल-ताण्डव की स्मृति-रेखा-सी
वह टूटे तरु की छुटी लता-सी दीन—
दलित भारत की ही विधवा है।

षड् - ऋतुओं का शृङ्गार,
कुसुमित कानन में नीरव-पद-सञ्चार,
अमर कल्पना मे स्वच्छन्द विहार—
व्यथा की भूली हुई कथा है,
उसका एक स्वप्न अथवा है।

उसके मधु - सुहाग का दर्पण,
जिसमे देखा था उसने
बस एक बार बिम्बित अपना जीवन-धन,
अबल हाथों का एक सहारा—
लक्ष्य जीवन का प्यारा—वह ध्रुवतारा—
दूर हुआ वह बहा रहा है
उस अनन्त पथ से करुणा की धारा।

है करुणा-रस से पुलकित इसकी आँखें,
देखा, तो भीगी मन-मधुकर की पाँखें;
मृदु रसावेश मे निकला जो गुञ्जार
यह और न था कुछ, था बस हाहाकार !

उस करुणा की सरिता के मलिन पुलिन पर,
लघु टूटी हुई कुटी का मौन बढ़ाकर
अति छिन्न हुए भीगे अञ्चल में मन को—
दुख-रूखे सूखे अधर—त्रस्त चितवन को
वह दुनिया की नजरों से दूर बचाकर,
रोती है अस्फुट स्वर में;
दुख सुनता है आकाश धीर,—
निश्चल समीर,
सरिता की वे लहरें भी ठहर-ठहरकर।

कौन उसको धीरज दे सके ?
दुःख का भार कौन ले सके ?

यह दुःख वह जिसका नही कुछ छोर है,
दैव अत्याचार कैसा घोर और कठोर है !
क्या कभी पोछे किसी ने अश्रु-जल ?
या किया करते रहे सबको विकल ?
ओस - कण - सा पल्लवों से झर गया
जो अश्रु, भारत का उसी से सर गया।

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 27 अक्तूबर, 1923 ('भारत की विधवा' शीर्षक से)। परिमल मे संकलित]

पहचाना

पहचाना—अब पहचाना—
हाँ, उस कानन में खिले हुए तुम
चूम रहे थे झूम-झूम
ऊषा के स्वर्ण कपोल,

अठखेलियाँ तुम्हारी प्यारी-प्यारी,--
व्यक्त इशारे से ही सारे बोल मधुर अनमोल।
सजे-बजे करते थे सबका स्वागत,
घूँघट का पट खोल दिखाते उसे प्रकृति का मुखड़ा,
जिसे समझते थे अभ्यागत।
तुम्हारा इतना हृदय उदार
व' क्या समझेगा माली निष्ठुर—
निरा गँवार--

स्वार्थ का मारा यहाँ भटकता—
फूटी कौड़ी पर विनोदमय
जीवन सदा पटकता—
तोड लिया लचकायी ज्यों ही डाली,
पत्थर से भी कठिन कलेजे का है
चला गया जो वह हत्यारा माली।

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 3 नवम्बर, 1923 ('अब पहचाना !' शीर्षक से)। परिमल मे संकलित]

देवि ! कौन वह ?

बैठी हुई हृदय में जब क्या जाने क्या वह गाती—
चपल अँगुलियों की गति से वह वीणा मंजु बजाती,
जिसकी मधुर मुस्कुराहट है मेरे आगे आती
देवि ! कौन वह इंगित पर जो जीवन चक्र चलाती ?

भरी सभा के बीच बैठकर जब मैं सिकुड़ लजाता,
करके दुख से मस्तक नीचा हूँ गरीब बन जाता,
विद्या की अधरों पर आती है जब पूर्ण पिपासा,
देवि! कौन वह बन जाती जो भावुक जन की भाषा ?

बार-बार असफल होने पर जब हताश हो जाता,
जब भविष्य को घिरा हुआ मैं अन्धकार से पाता,

मारा गया रंग मेरा जब फेंका ही था पासा,
देवि ! कौन वह खड़ी पास तब कहती मैं हूँ आशा ?

विजन देश में जाकर जब मैं पाता हूँ नीरवता
उसी एक का ध्यान लगाये उसका रूप निरखता
किन्तु मुझे बहकाती है जब उसकी निष्ठुर माया
देवि ! कौन वह राह बताते मैंने जिसको पाया ?

विषमय देख विश्व को जब मैं कलप-कलप कर रोता
अपने सभी साधनों को मैं पागल बनकर खोता
माता-सी तब मुझे उठाकर स्नेह-गोद में लेती
देवि ! कौन वह जो मुझको है विविध सान्त्वना देती ?

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 3 नवम्बर, 1923। असंकलित कविताएँ में संकलित]

कविता

शिला-खण्ड पर बैठी वह,
नीलाञ्चल मृदु लहराता था—
मुक्त-बन्ध सन्ध्या-समीर-सुन्दरी-संग
कुछ चुप-चुप बातें करता जाता
और मुस्कुराता था;

विकसित असित सुवासित उड़ते उसके
कुञ्चित कच गोरे कपोल छू-छूकर,—
लिपट उरोजों से भी वे जाते थे,
थपकी एक मारकर बड़े प्रेम से इठलाते थे;
शिशिर-बिन्दु रस-सिन्धु बहाता सुन्दर,
अंगना-अंग पर गगनांगन से गिरकर।

यह कविता ही थी और साज था
उसका बस शृंगार,—

वीणा के वे तार नहीं जो बजते,
वह कवि की ही थी हार,
जहाँ से उठती करुण पुकार,—
"चित्रित करने के उपाय तो किये
व्यर्थ हो गये किन्तु उपचार!"
भरा हुआ था हृदय प्यार से उसका,
उस कविता का,
वह थी निश्छल, अविकार,
अंग-अंग से उठी तरंगें उसके,
वे पहुँची कवि के पास, कहा—
"तुम चलो, बुलाया है उसने जल्दी
तुमको उस पार।"

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 10 नवम्बर, 1923 ('उस पार!' शीर्षक से)। परिमल में संकलित]

भिक्षुक

वह आता—
दो टूक कलेजे के करता पछताता
पथ पर आता।

पेट-पीठ दोनों मिलकर हैं एक,
चल रहा लकुटिया टेक,
मुट्ठी-भर दाने को—भूख मिटाने को
मुँह फटी पुरानी झोली का फैलाता—
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता।

साथ दो बच्चे भी हैं सदा हाथ फैलाये,
बायें से वे मलते हुए पेट को चलते,
और दाहिना दया-दृष्टि पाने की ओर बढ़ाये।

भूख से सूख ओंठ जब जाते
दाता—भाग्य-विधाता से क्या पाते ?—
घूँट आँसुओं के पीकर रह जाते।
चाट रहे जूठी पत्तल वे सभी सड़क पर खड़े हुए,
और झपट लेने को उनसे कुत्ते भी हैं अड़े हुए।

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 17 नवम्बर, 1923। परिमल में संकलित]

सन्ध्या-सुन्दरी

दिवसावसान का समय
मेघमय आसमान से उतर रही है
वह सन्ध्या-सुन्दरी परी-सी
धीरे धीरे धीरे,
तिमिराञ्चल में चञ्चलता का नहीं कहीं आभास,
मधुर-मधुर हैं दोनों उसके अधर,—
किन्तु गम्भीर,—नहीं है उनमें हास-विलास।

हँसता है तो केवल तारा एक
गुँथा हुआ उन घुँघराले काले बालों से,
हृदय-राज्य की रानी का वह करता है अभिषेक।

अलसता की-सी लता
किन्तु कोमलता की वह कली,
सखी नीरवता के कन्धे पर डाले बाँह,
छाँह-सी अम्बर-पथ से चली।

नहीं बजती उसके हाथों में कोई वीणा,
नहीं होता कोई अनुराग-राग-आलाप,
नूपुरों में भी रुन-झुन रुन-झुन रुन-झुन नहीं,
सिर्फ एक अव्यक्त शब्द-सा "चुप चुप चुप"
है गूँज रहा सब कहीं,—
व्योममण्डल में—जगती-तल में—

सोती शान्त सरोवर पर उस अमर कमलिनी-दल में—
सौन्दर्य-गर्विता-सरिता के अति विस्तृत वक्षःस्थल में—
धीर वीर गम्भीर शिखर पर हिमगिरि-अटल-अचल में—
उत्ताल-तरंगाघात-प्रलय-घन-गर्जन-जलधि-प्रबल में—
क्षिति मे—जल में—नभ मे—अनिल-अनल में—
सिर्फ एक अव्यक्त शब्द-सा "चुप चुप चुप"
है गूँज रहा सब कही,—
और क्या है ? कुछ नही।

मदिरा की वह नदी बहाती आती,
थके हुए जीवों को वह सस्नेह
प्याला वह एक पिलाती,
सुलाती उन्हे अंक पर अपने,
दिखलाती फिर विस्मृति के वह कितने मीठे सपने।

अर्द्धरात्रि की निश्चलता मे हो जाती वह लीन,
कवि का बढ़ जाता अनुराग,
विरहाकुल कमनीय कण्ठ से
आप निकल पड़ता तब एक विहाग।

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 24 नवम्बर, 1923। परिमल मे संकलित]

पथ

मेरे घर से निकल चले बढते हुए
उस अजान की ओर तुम्हारा छोर असीम अनन्त;
कहीं-कहीं जब देखा कोई द्वार—
दीन-हीन मुझ ऐसे का घर-बार,
तो ठहर गये, तुम गये अतः अड़ते हुए।
और नही सीधे पहुँचे तुम उस अनन्त के घर मे;
धोखा खाया तुमने भी क्षण-भर मे,
उलझ गये तुम कभी कँटीले बन में,
पथरीले टीले मे, कभी विजन में,
कभी कन्दरा के कराल आनन मे।

दहशत तुम्हें क्या थी प्रकृति की इस उखाड़-पछाड़ की ?—
दूध पीता छिन गया बच्चा अभी जिस शेरनी का
मांद से उसकी कठोर दहाड़ की ?
तुम्हें खौफ क्या जब कि काल के घर जाते हो
और हाल अपने अनन्त का बतलाते हो
किन्तु वहां भी जब सीमा से घिर जाते हो
क्या जाने तब किधर कहां तुम फिर जाते हो !

['समन्वय', मासिक, कलकत्ता, सौर अग्रहायण, संवत् 1980 वि. (नवम्बर-दिसम्बर, 1923)। गीत-गुंज (द्वितीय संस्करण) के परिशिष्ट में संकलित]

शरत्पूर्णिमा की बिदाई

बदी बिदाई में भी अच्छी होड़ !

शरत् ! चाँद यह तेरा मृदु मुखड़ा ?—
अथवा विजय-मुकुट पर तेरे, ऐ ऋतुओं की रानी,
हीरा है यह जड़ा ?
कुछ भी हो, तू ठहर, देख लूं भर नजर,
क्या जाने फिर क्या हो, इस जीवन का,
तू ठहर—ठहर !

तार चढ़ाये तो मैंने कस-कसकर,
पर हाय भाग्य, क्या गाऊँ ?
कभी रूठकर और कभी हँस-हँसकर,
क्यों कहती है—"क्या जाऊँ ? क्या अब जाऊँ ?"
अगर तुझे जाना था,
तो भरे हुए अंगों से रस छलकाना—
क्या एक रोज के लिए तुझे आना था !

तेरे आने से, देख, क्या छटा छायी है इस वन में—
सोते हुए विहंगों में कानन में,

चौंक-चौंककर और फैल जाता है निर्जन भाव,
पपीहे के "पिउ-पिउ" कूजन में ।
उधर मालती की चटकी जो कली,
चांदनी ने झट चूमे उसके गोल कपोल,
और कहा, "बस बहन, तुम्हारी सूरत कैसी भोली !"
कहा कली ने, "हां, और हां ऐसे मीठे बोल!"

मन्द तरंगो की यमुना का काला-काला रंग,
और गोद पर उसकी ये सोते हैं कितने तारे—
कैसे प्यारे-प्यारे,
सातों ऋषियों की समाधि गम्भीर,
गाती यमुना, तुझे सुनाती, धीरे धीरे धीरे,
कलकल कुलकुल कलकल टलमल टलमल ।
तेरे मुख-विकसित-सरोज का प्रेमी एक अनन्त,
किन्तु देर अब क्या है सखि ?—
कल आता है हेमन्त, साथ ही अन्त ।

तुझे देखकर मुझे याद आयी है,
वह एक और प्यारा मुख, वह कितना सुख ।
और बिदाई की वह मीठी चितवन—
बस ऐसी ही अति नम्र और अनुकूल—
जिसने हृदय बेध डाला है—
साथ उसी के चला गया है यह मन—
उसकी फुलवाड़ी का फूल
जो माला-भर में आला है ।

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 1 दिसम्बर, 1923 ('शरत्पूर्णिमा की बिदाई मे !' शीर्षक से) परिमल में संकलित]

खँडहर के प्रति

खँडहर ! खड़े हो तुम आज भी ?
अद्भुत अज्ञात उस पुरातन के मलिन साज !
विस्मृति की नींद से जगाते हो क्यों हमें—
करुणाकर, करुणामय गीत सदा गाते हुए?

पवन-सञ्चरण के साथ ही
परिमल-पराग-सम अतीत की विभूति-रज—
आशीर्वाद पुरुष-पुरातन का
भेजते सब देशों में,
क्या है उद्देश्य तव ?
बन्धन-विहीन भव !
ढीले करते हो भव-बन्धन नर-नारियों के ?
अथवा,
हो मलते कलेजा पड़े, जरा-जीर्ण
निर्निमेष नयनों में
बाट जोहते हो तुम मृत्यु की
अपनी सन्तानों से बूंद भर पानी को तरसते हुए ?
किंवा, हे यशोराशि !
कहते हो आँसू बहाते हुए—
"आर्त भारत ! जनक हूँ मैं
जैमिनि-पतञ्जलि-व्यास-ऋषियों का;
मेरी ही गोद पर शैशव-विनोद कर
तेरा है बढ़ाया मान
राम-कृष्ण-भीमार्जुन-भीष्म नरदेवों ने।
तुमने मुख फेर लिया,
सुख की तृष्णा से अपनाया है गरल,
तो बसे नव छाया में
नव स्वप्न ले जगे,
भूले वे मुक्त प्रान, साम-गान, सुधा-पान।"
बरसो आसीस, हे पुरुष-पुराण,
तव चरणों में प्रणाम हैं।

[रचनाकाल : 7 दिसम्बर, 1923। 'मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 8 दिसम्बर, 1923, में प्रकाशित। द्वितीय अनामिका में संकलित]

बन्द तुम्हारा द्वार !
मेरे सुहाग शृंगार !
द्वार यह खोलो—!
सुनी भी मेरी करुण पुकार ?
जरा कुछ बोलो !
स्नेह-रत्न, मैं बड़े यत्न से आज
कुसुमित कुञ्ज-द्रुमों से सौरभ-साज
सञ्चित कर लायी, पर कब से वञ्चित !
तुम ले लो, प्रिय, ले लो, ले लो—यह हार नही,
यह नहीं प्यार का मेरे
कोई अमूल्य उपहार,
नही कहीं भी इसमें आया
मेरा नाम-निशान,
और मुझे क्यों होगा भी अभिमान ?
पर नही जानती, अगर सुमन-मन-मध्य
समायी भी हो मेरी लाज,
माला के पड़ते ही वीर, हृदय पर,
छीने तुमसे मेरा राज।
विश्व-मनोरथ-पथ का मेरे प्रियतम,
बन्द किया क्यो द्वार ?
सोते हुए देखते हो तुम स्वप्न ?—
या नन्दन-वन के पारिजात-दल लेकर
तुम गूँथ रहे हो और किसी का हार ?
उस विहार मे पड़े हुए तुम मेरा
यों करते हो परिहार।
बिछे हुए थे काँटे उन गलियों मे,
जिनसे मैं चलकर आयी,—
पैरों मे छिद जाते जब,
आह मार मैं तुम्हे याद करती तब,
राह प्रीति की अपनी—वही कण्टकाकीर्ण,
अब मैं तै कर पायी।
पड़ी अँधेरे के घेरे मे कब से
खड़ी संकुचित है कमलिनी तुम्हारी,
मन के दिनमणि, प्रेम-प्रकाश !

उदित हो, आओ, हाथ बढ़ाओ,
उन्हें खिलाओ, खोलो प्रियतम द्वार,
पहन लो उसका यह उपहार,
मृदु-गन्ध परागों से उसके तुम कर दो
सुरभित प्रेम-हरित स्वच्छन्द
द्वेष-विष-जर्जर यह संसार।

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 15 दिसम्बर, 1923 ('प्रार्थना'' शीर्षक से)। परिमल में संकलित]

हूँ दूर

हूँ दूर—सदा मैं दूर!
कल्लोलिनी कला-जल-कलरव,
सुमन-सुरभि समीर-सुख-अनुभव
कुमुद-किरण-अभिसार-केलि-नव,
देख रहा तू भूल—दूर!
हूँ दूर—सदा मैं दूर!

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 22 दिसम्बर, 1923। गीतिका के आरम्भ में संकलित]

धारा

बहने दो,
रोक-टोक से कभी नहीं रुकती है,
यौवन-मद की बाढ़ नदी की
किसे देख झुकती है?

गरज-गरज वह क्या कहती है, कहने दो —
अपनी इच्छा से प्रबल वेग से बहने दो।
सुना, रोकने उसे कभी कुंजर आया था,
दशा हुई फिर क्या उसकी ?—
फल क्या पाया था ?

तिनका-जैसा मारा-मारा
फिरा तरंगों में बेचारा—
गर्व गँवाया —हारा;
अगर हठ-वश आओगे,
दुर्दशा करवाओगे—बह जाओगे।

देखते नही ?—वेग से हहराती है—
नग्न प्रलय का-सा ताण्डव हो रहा —
चाल कैसी मतवाली—लहराती है।
प्रकृति को देख, मींचती आँखें,
त्रस्त खडी है—थर्राती है।

आज हो गये ढीले सारे बन्धन,
मुक्त हो गये प्राण,
रुका है सारा करुणा-क्रन्दन।

बहती कैसी पागल उसकी धारा !
हाथ जोड़कर खड़ा देखता दीन
विश्व यह सारा।

बडे दम्भ से खडे हुए ये भूधर
समझे थे जिसे बालिका,
आज ढहाते शिला-खण्ड-चय देख
काँपते थर-थर—
उपल-खण्ड नर-मुण्ड-मालिनी कहते उसे कालिका।

छुटी लट इधर-उधर लटकी हैं,
श्याम वक्ष पर खेल रही हैं
स्वर्ण-किरण-रेखाएँ।
एक पर दृष्टि जरा अटकी है,
देखा, एक कली चटकी है।

लहरों पर लहरों का चंचल नाच,
याद नहीं थी, करना उसकी जाँच,
अगर पूछता कोई तो वह कहती,
उसी तरह हँसती पागल-सी बहती—
"यह जीवन की प्रबल उमंग,
जा रही मैं मिलने के लिए,
पार कर सीमा,
प्रियतम असीम के संग।"

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 29 दिसम्बर, 1923। परिमल में संकलित]

आवाहन

एक बार बस और नाच तू श्यामा!

सामान सभी तैयार,
कितने ही हैं असुर, चाहिए कितने तुझको हार?
कर-मेखला मुण्ड-मालाओं से बन मन-अभिरामा—
एक बार बस और नाच तू श्यामा!

भैरवी! भेरी तेरी झंझा
तभी बजेगी मृत्यु लड़ाएगी जब तुझसे पंजा;
लेगी खड्ग और तू खप्पर,
उसमें रुधिर भरूँगा माँ,
मैं अपनी अञ्जलि भर-भर;
उँगली के पोरों में दिन गिनता ही जाऊँ क्या माँ—
एक बार बस और नाच तू श्यामा!

अट्टहास-उल्लास नृत्य का होगा जब आनन्द
विश्व की इस वीणा के टूटेंगे सब तार,
बन्द हो जाएँगे ये सारे कोमल तार,
सिन्धु-राग का होगा तब आलाप—

उत्ताल-तरंग-भंग कह देंगे
मा, मृदंग के सुस्वर क्रिया-कलाप;
और देखूँगा देते ताल
कर-तल-पल्लव-दल से निर्जन वन के सभी तमाल;
निर्झर के झर-झर स्वर में तू सरिगम मुझे सुना मा—
एक बार बस और नाच तू श्यामा !

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 5 जनवरी, 1924। परिमल में संकलित]

वन-कुसुमों की शय्या

त्रस्त विश्व की आँखों से बह-बहकर,
धूलि-धूसरित धोकर उसके चिन्तालोल कपोल,
श्वास और उच्छ्वासों की आवेग-भरी हिचकी से
दलित हृदय की रुद्ध अर्गला खोल—
धीर करुण ध्वनि से वह अपनी कथा व्यथा की कहकर
धारा भरती धराधाम के दुःख-अश्रु का सागर।

दाह-तपन-उत्तप्त दुःख-सागर-जल खौल उठा
फिर बना वाष्प का काला बादल,
बरसाया जब मेह, धरा की
सारी ज्वाला कर दी शीतल।

किन्तु आह फिर भी क्या होती शान्त ?
नहीं, जले दिल को तो ठण्डक और चाहिए—
और चाहिए कुसुमित वन का प्रान्त,
मदिर नयन—वे अर्द्ध-निमीलित लोचन।
वन-कुसुमों की शय्या पर एकान्त।

मोती हुई सरोज-अंक पर
शरत्-शिशिर दोनों बहनों के
सुख-विलास-मद-शिथिल अंग पर

पथ-पथ पंखे झलते थे
सजनी की कर-परस समीरण धीरे-धीरे आती—
नींद उचट जाने के भय से थी रुक-रुक घबराती।

बड़ी बहन वर्षा ने उन्हें जगाया—
अन्तिम झोंका बड़े जोर से एक,
किन्तु कोप से नहीं, प्यार से,
अमल-कमल-मुख देख,
मृदु हँसते हुए लगाया,—सोते से उन्हें उठाया।

वे उठीं, सेज मुरझायी,
एक-दूसरी का थी पकड़े हाथ,
और दोनों का ऐसा ही था अविचल साथ;
कभी-कभी वे लेती थीं अँगड़ाई,
क्योंकि नींद वह उचटी
थी मदमाती आँखों में उनकी छायी।

रस की बूँदें बन, उस नीले अम्बर से
वे टपक पड़ीं, लोगों की नजर बचाकर,
हरसिंगार की कोमल-दल कलियों पर।

सुबह को बिछी हुई शय्या का देखा जब [illegible] शृंगार,
पूछा, "क्या है?"
"इस निर्जन में दोनों का ही होता [illegible] विहार।"
छिपे अंचल में सुख की पंचम
वह वाणी थी उनके सुहाग की [illegible]—
दुख में सुख लानेवाली [illegible]।

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 12 [illegible], 1924। [illegible]

शृङ्गारमयी

शरच्चन्द्रिका-सी वह सुन्दर गोरी—
अभी खिली मृदु गन्ध कली की मन्द-मन्द मुस्कान,
यौवन-मदिरा पीकर ज़रा नशीली
अलस हुई कुछ नीची चितवन,
छिपी हृदय में वह प्रियतम के
किसी सलज्ज षोडशी-सी पहचान,
विरह-विधुर पर मधुर कण्ठ की निकली—
वह अम्बर-पथ पर स्वर-सरिता-सी बहती—
थी सरस इमन की तान,
शृङ्गारमयी वह खड़ी हुई
कविजन-मन-मानस-तट पर
प्रिय ध्यानमयी थी इस दुनिया की बातों से अनजान।
चंचल अंचल उसका लहराता था—
खिंची सखी-सी वह समीर से
गुपचुप बातें करता—
कभी ज़ोर से ब्तलाता था;
विकसित कुसुम-सुशोभित असित सुवासित
कुंचित कच बादल-से काले-काले
उड़ते, लिपट उरोजों से जाते थे,
मार-मार थपकियाँ प्यार से इठलाते थे,
झूम-झूमकर कभी चूम लेते थे स्वर्ण-कपोल,
जलतरंग-सा रंग जमाते हुए सुनाते बोल;
शिशिर-बिन्दु रस-सिन्धु बहाता सुन्दर
अंगना-अंग पर गगनांगण से गिरकर
कविता की सरिता में, उसे देखकर,
उठती थी जो लहर, ठहर जाती थी
अरुण कमल-कोमल उसके चरणों पर।
"कैसे चित्रित करूँ ?"—
कहा जब कवि ने भरकर आह—
"सुनी भी मेरी करुण पुकार ?
व्यर्थ हो गये देवि, देखते तुम्हें सभी उपचार"
कहा प्यार से उसने—उस देवी ने—

"हाँ, ठीक तो, यह लो मेरा हार,
पहन लो, और ज़रा अनुराग-परागों में खोजो,
उपहार नहीं,—देखो, क्या मिलता है तुमको शृंगार।"

['माधुरी', मासिक, लखनऊ, 13 जनवरी, 1924। असंकलित]

प्रलाप

वीणानन्दित वाणी बोल!
संशय-अन्धकारमय पथ पर भूला प्रियतम तेरा—
सुधाकर-विमल धवल मुख खोल!

प्रिये, आकाश प्रकाशित करके,
शुष्ककण्ठ कण्टकमय पथ पर
छिड़क ज्योत्स्ना घट अपना भर-भरके!
शुष्क हूँ—नीरस हूँ—उच्छृंखल—
और क्या-क्या हूँ, क्या मैं दूँ अब इसका पता,
बता तो सही, किन्तु वह कौन घेरनेवाली
बाहु-वल्लियों में मुझको है एक कल्पना-लता?

अगर वह तू है तो आ चली
विहग-गण के इस कल कूजन में—
लता-कुञ्ज में मधुप-पुञ्ज के 'गुन-गुन-गुन' गुञ्जन में
क्या सुख है—यह कौन कहे सखि,
निर्जन में इस नीरव मुख-चुम्बन में?

अगर बतायेगी तू पागल मुझको
तो उन्मादिनी कहूँगा मैं भी तुझको;
अगर कहेगी तू मुझको 'यह है मतवाला निरा'
तो तुझे बताऊँगा मैं भी लावण्य-माधुरी-मदिरा;
अगर कभी देगी तू मुझको कविता का उपहार
तो मैं भी तुझे सुनाऊँगा भैरव के पद दो-चार!

शान्ति सरल मन की तू कोमल कान्ति—
यहाँ अब आ जा,
प्याला-रस कोई हो भरकर
अपने ही हाथों तू मुझे पिला जा,
नस-नस में आनन्द-सिन्धु की धारा प्रिये, बहा जा;
ढीले हो जायें ये सारे बन्धन,
होये सहज चेतना लुप्त,—
भूल जाऊँ अपने को,
कर दे मुझे अचेतन।
भूलूं मैं कविता के छन्द,
अगर कहीं से आये सुर-संगीत—
अगर बजाये तू ही बैठ बगल में कोमल तार
तो कानों तक आते ही रुक जाये उनकी झंकार;
भूलूं मैं अपने को भी
तुझको—अपने प्रियजन को भी !
हँसती हुई, दशा पर मेरी प्रिय अपना मुख मोड़,
जायेगी ज्यों-का-त्यों मुझको यहाँ अकेला छोड़ !
इतना तो कह दे—सुख या दुख भर लेगी
जब इस नद से कभी नयी नय्या अपनी खेयेगी ?

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 19 जनवरी, 1924। द्वितीय अनामिका में सकलित]

रास्ते के फूल से

झोली करुणा की भिक्षा की,
दलित कुसुम ! क्यों कहो,
धूलि में नजर गड़ाये हो फैलाये ?
मलिन दृष्टि के भाषा-हीन भाव से—
मर्मस्पर्शी देश-राग के-से प्रभाव से
क्या तुम बतलाते हो
जब किसी पथिक को इधर कभी आते-जाते पाते हो ?

क्या कहते हो ?—"झटिका के
झोंके में तरु था झुका,
बचने पर भी, हाय, अन्त तक न रुका।
खिन्न लतिका को करके छिन्न,
आँधी मुझे उडा लायी है
तब से यह नौबत आयी है !"
यह नही ?कहो फिर—फिर क्या !—
"ढके हृदय में स्वार्थ लगाये ऊपर चन्दन,
करते समय नदीश-नन्दिनी का अभिनन्दन,
तुम्हें चढाया कभी किसी ने था देवी पर,
दिन-भर में मुरझाये,
रूप-सुवास-रंग चरणो पर यद्यपि अर्जित कर पाये,
किन्तु देखकर तुम्हें जरा से जर्जर,
फेंक दिया पृथ्वी पर तुमको
रक्खे हुए हृदय मे अपने उस निर्दय ने पत्थर ?"
नही ?तो क्यों दुख से घिरते हो ?
मारे-मारे इधर-उधर फिरते हो ?
क्या कहते हो ?—"बीत गयी वह रात—
सिद्धि की मधुर दृष्टि का
युगल-मिलन पर प्रेम-पूर्ण सम्पात,
जब दो साधक थे प्रीति-साधना-तत्पर,
प्रीति-अर्चना की रचना मुझसे ही की थी सुन्दर,
रस्मे अदा हुई थी मुझसे—
मैं ही था उनका आचार्य,—
कोमल कर था मिला कमल-कर से जब
सिद्ध हुआ मुझसे ही उसका कार्य;
प्रेम-बन्ध का मैं ही था सम्बन्ध—
'ललित कल्पना'—'कोमल पद' का
मैं था 'मनहर' छन्द !"

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 26 जनवरी, 1924 ('रास्ते के मुरझाये हुए फूल से' शीर्षक से)। परिमल मे संकलित]

अनुताप

जहाँ हृदय में बालकेलि की कलाकौमुदी नाच रही थी,
किरण बालिका जहाँ विजन-उपवन-कुसुमों को जाँच रही थी,
जहाँ वसन्ती-कोमल-किसलय-वलय-सुशोभित कर बढ़ते थे,
जहाँ मञ्जरी-जयकिरीट वनदेवी की स्तुति कवि पढ़ते थे,
जहाँ मिलन विजन-मधुगुञ्जन युवक-युवति-जन मन हरता था,
जहाँ मृदुल पथ पथिक-जनों की हृदय खोल सेवा करता था,

आज उसी जीवन-वन में घन अन्धकार छाया रहता है,
दमन-दाह से आज, हाय! वह उपवन मुरझाया रहता है!

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 2 फरवरी, 1924। द्वितीय अनामिका में संकलित]

शंकिता

मैं न जानती थी तुम ऐसे हो कठिन,
मार्ग तुम्हारा भी ऐसा है कुटिल,
काँटों से घिरा हुआ—
कोमलपद कामिनियों के यह है नहीं
चलने योग्य कभी भी
आह! बुलाया अगर मुझे तो क्यों कहो
भटकाते हो इस तरह
देव! न अब चलने की मुझमें शक्ति है,
मैं क्या जानूँ सर्वशक्तिमय प्रियतम की शय्या में
सो सकती है वही सुहागिन
शक्तिमयी—हाँ सर्वविजयिनी पायी जिसने शक्ति हो,
रूप और लावण्य, तुम्हारा निर्विकार वह प्रेम भी।
मैं आयी थी सुनकर एक सखी से
बाहु-लताओं से भेंटा था
जिसने तुमको प्रेम से;
किन्तु मुझे तो हाय भटकना ही बदा!

और कँटीला मार्ग पार कैसे करे
कोमलपदगामिनी कृशांगी अबला ?
मारे डर के काँप रहा दुर्बल हृदय,
फेरो अब तो मुझ पर करुणादृष्टि
देव करुणामय !

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 9 फरवरी, 1924। असंकलित कविताएँ में संकलित]

यहीं

मधुर मलय में यहीं
गूँजी थी एक वह जो तान
लेती हिलोरें थी समुद्र की तरंग-सी—,
उत्फुल्ल हर्ष से प्लावित कर जाती तट।
वीणा की झंकृति में स्मृति की पुरातन कथा
जग जाती हृदय में,—बादलों के अंग में
मिली हुई रश्मि ज्यों
नृत्य करती आँखों की
अपराजिता-सी श्याम कोमल पुतलियों में,
नूपुरों की झनकार
करती शिराओं में संचरित और गति
ताल-मूर्च्छनाओं सधी।
अधरों के प्रान्तों पर खेलती रेखाएँ
सरस तरंग-भंग लेती हुई हास्य की।
बंकिम कर ग्रीवा
बाहु-वल्लरियों को बढ़ाकर
मिलनमय चुम्बन की कितनी वे प्रार्थनाएँ
बढ़ती थीं सुन्दर के समाराध्य मुख की ओर
तृप्तिहीन तृष्णा से।

कितने उन नयनों ने
प्रेम-पुलकित होकर
दिये थे दान यहाँ
भुवन हो मान में !
कृष्ण घन अलकों में
कितने प्रेमियों का यहाँ पुलक समाया था !
आभा से पूर्ण, वे बड़ी-बड़ी आँखें,
पल्लवों की छाया में
बैठी रहती थी मूर्ति निर्भरता की बनी।

कितनी वे रातें
स्नेह की बातें
रक्खे निज हृदय में
आज भी है मौन यहाँ—
लीन निज ध्यान में।
यमुना की कल ध्वनि
आज भी सुनाती है विगत सुहाग-गाथा।
तट को बहाकर वह
प्रेम की प्लावित
करने की शक्ति कहती है।

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 16 फरवरी, 1924। द्वितीय अनामिका में संकलित]

स्वप्न-स्मृति

आँख लगी थी पल-भर,
देखा, नेत्र छलछलाये दो
आये आगे किसी अजाने दूर देश से चलकर।
मौन भाषा थी उनकी, किन्तु व्यक्त था भाव,
एक अव्यक्त प्रभाव
छोड़ते थे करुणा का अन्तस्थल में क्षीण,
सुकुमार लता के वाताहत मृदु छिन्न पुष्प-से दीन।

भीतर नग्न रूप था घोर दमन का,
बाहर अचल धैर्य था उनके उस दुखमय जीवन का;
भीतर ज्वाला धधक रही थी सिन्धु अनल की,
बाहर थी दो बूँदें—पर थी शान्त भाव मे निश्चल—
विकल जलधि के जर्जर मर्मस्थल की।

भाव मे कहते थे वे नेत्र निमेष-विहीन—
अन्तिम श्वास छोडते जैसे थोडे जल मे मीन,—
"हम अब न रहेंगे यहाँ, आह संसार !
मृगतृष्णा से व्यर्थ भटकना, केवल हाहाकार
तुम्हारा एकमात्र आधार;
हमें दुःख से मुक्ति मिलेगी—हम इतने दुर्बल हैं--
तुम कर दो एक प्रहार !"

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 23 फरवरी, 1924 ('स्वप्न मे' शीर्षक से)। परिमल मे संकलित]

वीणावादिनी

तव भक्त भ्रमरो को हृदय मे लिये वह शतदल विमल
आनन्द-पुलकित लोटता नव चूम कोमल चरणतल।

वह रही है सरस तान-तरंगिनी,
बज रही वीणा तुम्हारी संगिनी,

अयि मधुरवादिनि, सदा तुम रागिनी-अनुरागिनी,
भर अमृत-धारा आज कर दो प्रेम विह्वल हृदयदल।
आनन्द-पुलकित हों सकल तव चूम कोमल चरणतल !

स्वर हिलोरें ले रहा आकाश में,
काँपती है वायु स्वर-उच्छ्वास मे,

ताल-मात्राएँ दिखाती भंग, नव गति, रंग भी
मूर्च्छित हुए से मूर्च्छना करती उठाकर प्रेम-छल।
आनन्द-पुलकित हो सकल तव चूम कोमल चरणतल !

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 23 फरवरी, 1924। द्वितीय अनामिका में संकलित]

वह

सौन्दर्य-सरोवर की वह एक तरङ्ग,
किन्तु नही चञ्चल प्रवाह—उद्दाम वेग—
संकुचित एक लज्जित गति है वह
प्रिय समीर के सङ्ग ।

वह नव वसन्त की किसलय-कोमल लता,
किसी विटप के आश्रय मे मुकुलिता
किन्तु अवनता ।

उसके खिले कुसुम-सम्भार
विटप के गर्वोन्नत वक्षःस्थल पर सुकुमार,
मोतियों की मानो है लड़ी
विजय के वीर हृदय पर पड़ी ।

उसे सर्वस्व दिया है,
इस जीवन के लिए हृदय से जिसे लपेट लिया है ।
वह है चिरकालिक बन्धन,
पर है सोने की जंजीर,
उसी से बाँध लिया करती मन,
करती किन्तु न कभी अधीर ।

पुष्प है उसका अनुपम रूप,
कान्ति सुषमा है,
मनोमोहिनी है वह मनोरमा है,
जलती अन्धकारमय जीवन की वह एक शमा है ।

वह है सुहाग की रानी,
भावमग्न कवि की वह एक मुखरता-वर्जित वाणी ।
सरलता ही से उसकी होती मनोरञ्जना,
नीरवता ही करती उसकी पूरी भाव-व्यञ्जना ।

अगर कही चञ्चलता का प्रभाव कुछ उस पर देखा
तो भी वह प्रियतम के आगे मृदु स्निग्ध हास्य की रेखा

विना अर्थ की—एक प्रेम ही अर्थ—और निष्काम
मधुर बहाती हुई शान्ति-सुख की धारा अविराम।

उसमें कोई चाह नहीं है
विषय-वासना तुच्छ, उसे कोई परवाह नहीं है।

उसकी साधना
केवल निज सरोज-मुख पति को ताकना।

रहें देखते प्रिय को उसके नेत्र निमेष-विहीन,
मधुर भाव की इस पूजा में ही वह रहती लीन।

यौवन-उपवन का पति वसन्त,
है वही प्रेम उसका अनन्त,
है वही प्रेम का एक अन्त।

खुलकर अति प्रिय नीरव भाषा ठण्डी उस चितवन से
क्या जाने क्या कह जाती है अपने जीवन-धन से ?

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 1 मार्च, 1924 ('हमारी बहू' शीर्षक से)। परिमल में संकलित]

विफल-वासना

गूँथे तप्त अश्रुओं के मैंने कितने ही हार
बैठी हुई पुरातन स्मृति की मलिन गोद पर प्रियतम!
रुद्ध द्वार पर रखे थे मैंने कितने ही बार
अपने ये उपहार कृपा के लिए तुम्हारी अनुपम!
मेरे दग्ध हृदय का ही था सार
प्रभाकर की उन प्रखर किरणों में,
नूपुर-सी मैं बजी तुम्हारे लिए
तुम्हारी अनुरागिनियों के निष्ठुर चरणों में।

हँसता हुआ कभी आया जब
वन मे ललित वसन्त,
तरुण विटप सब हुए, लताएँ तरुणी,
और पुरातन पल्लव-दल का
शाखाओ से अन्त,
जब बढी अर्घ्य देने को तुमको
हँसती वे वल्लरियाँ,
लिये हरे अञ्चल मे अपने फूल,
एक प्रान्त मे खडी हुई मैं,
देख रही थी स्वागत,
चुभते पर हाय नाथ !
मर्मस्थल मे जो शूल,
तुम्हें कैसे प्रिय, बतलाऊँ मैं ?
कैसे दुख-गाथा गाऊँ मैं
छिन्न प्रकृति के निर्दय आघातो से हो जाते है
जो पुष्प, नही कहते कुछ, केवल रो जाते हैं;
वे अपना यौवन-पराग-मधु खो जाते हैं,
अन्तिम श्वास छोड पृथ्वी पर सो जाते है !
वैसे ही मैने अपना सर्वस्व गँवाया
रूप और यौवन चिन्ता में, पर क्या पाया ?
प्रेम ? हाय आशा का वह भी स्वप्न एक था
विफल-हृदय तो आज दुःख-ही-दुःख देखता ?
तुम्हें कहूँ मैं, कहो, प्रेममय
अथवा दुख के देव, सदा ही निर्दय ?

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 15 मार्च, 1924। परिमल मे संकलित]

प्रिया से

मेरे इस जीवन की है तू सरस साधना कविता,
मेरे तरु की है तू कुसुमित प्रिये, कल्पना-लतिका;
मधुमय मेरे जीवन की प्रिय है तू कमल-कामिनी,
मेरे कुञ्ज-कुटीर-द्वार की कोमल-चरणगामिनी;

नूपुर मधुर बज रहे तेरे,
सब शृंगार सज रहे तेरे,

अलक-सुगन्ध मन्द मलयानिल धीरे-धीरे ढोती,
पथ श्रान्त तू सुप्त कान्त की स्मृति मे चलकर सोती।
कितने वर्णों में, कितने चरणों मे तू उठ खडी हुई,
कितने बन्दो में, कितने छन्दो मे तेरी लडी गयी,
कितने ग्रन्थो में, कितने पन्थों मे देखा पढी गयी,

तेरी अनुपम गाथा—
मैंने वन में, अपने मन मे
जिसे कभी गाया था।

मेरे कवि ने देखे तेरे स्वप्न सदा अविकार,
नहीं जानती क्यों तू इतना करती मुझको प्यार!
तेरे सहज रूप से रँगकर
झरे गान के मेरे निर्झर,

भरे अखिल सर,
स्वर मे मेरे सिक्त हुआ संसार।

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 29 मार्च, 1924। द्वितीय अनामिका मे संकलित]

दिल्ली

क्या यह वही देश है—
भीमार्जुन आदि का कीर्तिक्षेत्र,
चिरकुमार भीष्म की पताका ब्रह्मचर्य दीप्त
उड़ती है आज भी जहाँ के वायुमण्डल में
उज्ज्वल, अधीर और चिरनवीन?—
श्रीमुख से कृष्ण के सुना था जहाँ भारत ने
गीता-गीत—सिंहनाद—
मर्मवाणी जीवन-संग्राम की—
सार्थक समन्वय ज्ञान-कर्म-भक्ति-योग का?

यह वही देश है
परिवर्तित होता हुआ ही देखा गया जहाँ
भारत का भाग्य चक्र ?—
आकर्षण तृष्णा का
खींचता ही रहा जहाँ पृथ्वी के देशों को
स्वर्ण-प्रतिमा की ओर ?—
उठा जहाँ शब्द घोर
संसृति के शक्तिमान दस्युओं का अदमनीय,
पुनः पुनः बर्बरता विजय पाती गयी
सभ्यता पर, संस्कृति पर,
काँपे सदा रे अधर जहाँ रक्तधारा लख
आरक्त हो सदैव।

क्या यह वही देश है—
यमुना-पुलिन से चल
'पृथ्वी' की चिता पर
नारियों की महिमा उस सती संयोगिता ने
किया आहूत जहाँ विजित स्वजातियों को
आत्म-बलिदान से :—
'पढ़ो रे, पढ़ो रे पाठ,
भारत के अविश्वस्त अवनत ललाट पर
निज चिताभस्म का टीका लगाते हुए—'
सुनते ही रहे खड़े भय से विवर्ण जहाँ
अविश्वस्त, संज्ञाहीन, पतित, आत्मविस्मृत नर ?

बीत गये कितने काल
क्या यह वही देश है
बदले किरीट जिसने सैकड़ों महीप-भाल ?
क्या यह वही देश है
सन्ध्या की स्वर्णवर्ण किरणों मे
दिग्वधू अलस हाथों से
थी भरती जहाँ प्रेम की मदिरा,—
पीती थी वे नारियाँ
बैठी झरोखे में उन्नत प्रासाद के ?—
बहता था स्नेह-उन्माद नस-नस में जहाँ
पृथ्वी की साधना के कमनीय अंगों मे ?—

ध्वनिमय ज्यों अन्धकार
दूरगत सुकुमार,
प्रणयियों की प्रिय कथा
व्याप्त करती थी जहाँ
अम्बर का अन्तराल ?
आनन्द-धारा बहती थी शत लहरों मे
अधर के प्रान्तों से;
अतल हृदय से उठ

बाँधे युग बाहुओं के
लीन होते थे जहाँ अन्तहीनता में मधुर ?—

अश्रु बह जाते थे
कामिनी के कोरों से
कमल के कोषों से प्रात की ओस ज्यों,
मिलन की तृष्णा से फूट उठते थे फिर,
रँग जाता नया राग ?—
केश-सुख-भार रख मुख प्रिय-स्कन्ध पर
भाव की भाषा से
कहती सुकुमारियाँ थी कितनी ही बातें जहाँ
रातें विरामहीन करती हुई ?—
प्रिया की ग्रीवा-कपोत बाहुओं से घेर
मुग्ध हो रहे थे जहाँ प्रिय-मुख अनुरागमय ?—

खिलते सरोवर के कमल परागमय
हिलते-डुलते थे जहाँ
स्नेह की वायु से, प्रणय के लोक मे
आलोक प्राप्त कर ?
रचे गये गीत,
गये गाये जहाँ कितने राग
देश के, विदेश के !
बही धाराएँ जहाँ कितनी किरणों को चूम !
कोमल निषाद भर
उठे वे कितने स्वर !
कितनी वे रातें
स्नेह की बातें रक्खे निज हृदय में
आज भी हैं मौन जहाँ !

यमुना की ध्वनि में
है गूँजती सुहाग-गाथा,
सुनता है अन्धकार खड़ा चुपचाप जहाँ !
आज वह 'फिरदौस'
सुनसान है पड़ा।
शाही दीवान-आम स्तब्ध है हो रहा,
दुपहर को, पार्श्व में,
उठता है झिल्लीरव,
बोलते है स्यार रात यमुना-कछार में,
लीन हो गया है रव
शाही अंगनाओं का,
निस्तब्ध मीनार,
मौन हैं मकबरे :—
भय में आशा को जहाँ मिलते थे समाचार,
टपक पडता था जहाँ आँसुओं मे सच्चा प्यार !

[रचनाकाल : 4 अप्रैल, 1924। 'मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, के 5 जुलाई और 19 जुलाई, 1924 के अंको मे दो किस्तों मे प्रकाशित। द्वितीय अनामिका मे संकलित]

प्रगल्भ-प्रेम

आज नही है मुझे और कुछ चाह
अर्धविकच इस हृदय-कमल मे आ तू
प्रिये, छोड़कर बन्धनमय छन्दों की छोटी राह !
गजगामिनि, वह पथ तेरा संकीर्ण,
कण्टकाकीर्ण,
कैसे होगी उसमें पार !
काँटों मे अञ्चल के तेरे तार निकल जायेंगे
और उलझ जायेगा तेरा हार
मैंने अभी-अभी पहनाया
किन्तु नजर-भर देख न पाया—कैसा सुन्दर आया।

मेरे जीवन की तू प्रिये, साधना,
प्रस्तरमय जग में निर्झर बन
उतरी रसाराधना !
मेरे कुञ्ज-कुटीर-द्वार पर आ तू
धीरे-धीरे कोमल चरण बढ़ाकर,
ज्योत्स्नाकुल सुमनों की सुरा पिला तू
प्याला शुभ्र करों का रख अधरों पर !
बहे हृदय में मेरे, प्रिय, नूतन आनन्द प्रवाह,
सकल चेतना मेरी होए लुप्त
और जग जाये पहली चाह !
लखूं तुझे ही चकित चतुर्दिक
अपनापन मैं भूलूं।
पड़ा पालने पर मैं सुख से लता-अंक के झूलूं।

केवल अन्तस्तल में मेरे सुख की स्मृति की अनुपम
धारा एक बहेगी,
मुझे देखती तू कितनी अस्फुट बातें मन ही मन
सोचेगी, न कहेगी !
एक लहर आ मेरे उर में मधुर कराघातों से
देगी खोल हृदय का तेरा चिरपरिचित वह द्वार,
कोमल चरण बढ़ा अपने सिंहासन पर बैठेगी,
फिर अपनी उर की वीणा के उतरे ढीले तार
कोमल-कली उँगलियों से कर सज्जित,
प्रिये, बजायेगी, होंगी सुर-ललनाएँ भी लज्जित !
इमन-रागिनी की वह मधुर तरंग
मीठी थपकी मार करेगी मेरी निद्रा भंग;
जागूँगा जब, सम में समा जायगी तेरी तान
व्याकुल होंगे प्राण,
सुप्त स्वरों के छाये सन्नाटे में
गूँजेगा यह भाव,
मौन छोड़ता हुआ हृदय पर विरह-व्यथित प्रभाव—
क्या जाने वह कैसी थी आनन्द सुरा
अधरों तक आकर
बिना मिटाये प्यास, गयी जो सूख, जलाकर अन्तर !

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 5 अप्रैल, 1924। द्वितीय अनामिका में संकलित]

उद्‌बोधन

गरज-गरज घन अन्धकार मे गा अपने संगीत,
बन्धु, वे बाधा-बन्ध-विहीन,
आँखो मे नव जीवन की तू अञ्जन लगा पुनीत,
बिखर झर जाने दे प्राचीन।

बार-बार उर की वीणा में कर निष्ठुर झंकार
उठा तू भैरव निर्जर राग,
बहा उसी स्वर मे सदियों का दारुण हाहाकार
सञ्चरित कर नूतन अनुराग।

बहता अन्ध प्रभञ्जन ज्यों, यह त्योंही स्वर-प्रवाह
मचल कर दे चञ्चल आकाश,
उडा उड़ा कर पीले पल्लव, करे सुकोमल राह,—
तरुण तरु; भर प्रसून की प्यास।

काँपे पुनर्वार पृथ्वी शाखा-कर-परिणय-माल,
सुगन्धित हो रे फिर आकाश,
पुनर्वार गायें नूतन स्वर, नव कर से दे ताल,
चतुर्दिक छा जाये विश्वास।

मन्द्र उठा तू बन्द-बन्द पर जलने वाली तान
विश्व की नश्वरता कर नष्ट,
जीर्ण-शीर्ण जो, दीर्ण धरा मे प्राप्त करे अवसान,
रहे अवशिष्ट सत्य जो स्पष्ट।

ताल-ताल से रे सदियो के जकडे हृदय-कपाट,
खोल दे कर-कर कठिन प्रहार,
आये अभ्यन्तर संयत चरणो से नव्य विराट,
करे दर्शन, पाये आभार।

छोड़, छोड दे शंकाएँ, रे निर्झर-गर्जित वीर!
उठा केवल निर्मल निर्घोष,
देख सामने, बना अचल उपलों को उत्पल, धीर!
प्राप्त कर फिर नीरव सन्तोष!

भर उद्दाम वेग से बाधाहर तू कर्कश प्राण
दूर कर दे दुर्बल विश्वास,
किरणों की गति से आ, आ तू, गा तू गौरव-गान,
एक कर दे पृथ्वी-आकाश।

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 12 अप्रैल, 1924 ('गा अपने संगीत' शीर्षक से)। द्वितीय अनामिका में संकलित]

खोज और उपहार

चकित चितवन कर अन्तर पार,
खोजती अन्तरतम का द्वार
बालिका-सी व्याकुल सुकुमार
लिपट जाती जब कर अभिमान—

अश्रु-सिञ्चित दृग दोनों मीच,
कमल-कर कोमल-कर से खींच,
मृदुल पुलकित उर से उर सींच,
देखती किसकी छवि अनजान?

ग्रीष्म का ले मृदु रवि-कर-तार,
गूँथ वर्षा - जल - मुक्ता - हार,
शरत की शशि-माधुरी अपार
उसी में भर देती धर ध्यान;

सिक्त हिम-कण से छन-छन वात,
शीत में कर रखा अज्ञात,
वसन्ती सुमन-सुरभि भर प्रात
बढ़ाया था किसका सम्मान?

तुम्हें कवि पहनायी माला,
देखती तुमको वह बाला।

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 26 अप्रैल, 1924। परिमल में संकलित]

तरंगों के प्रति

किस अनन्त का नीला अंचल हिला-हिलाकर
आती हो तुम सजी मण्डलाकार ?
एक रागिनी में अपना स्वर मिला-मिलाकर
गाती हो ये कैसे गीत उदार ?
सोह रहा है हरा क्षीण कटि मे, अम्बर शैवाल,
गाती आप, आप देती सुकुमार करों से ताल।
चचल चरण बढ़ाती हो,
किससे मिलने जाती हो ?
तैर तिमिर-तल भुज-मृणाल से सलिल काटती,
आपस मे ही करती हो परिहास,
हो मरोरती गला शिला का कभी डाँटती,
कभी दिखाती जगती-तल को त्रास,
गन्ध-मन्द गति कभी पवन का मौन-भंग उच्छ्वास
छाया-शीतल तट-तल मे आ तकती कभी उदास,
क्यों तुम भाव बदलती हो—
हँसती हो, कर मलती हो ?
बाँहे अगणित बढ़ी जा रहीं हृदय खोलकर
किसके आलिंगन का है यह साज ?
भाषा मे तुम पिरो रही हो शब्द तोलकर,
किसका यह अभिनन्दन होगा आज ?
किसके स्वर मे आज मिला दोगी वर्षों का गान,
आज तुम्हारा किस विशाल वक्षःस्थल मे अवसान ?
आज जहाँ छिप जाओगी,
फिर न हाय तुम गाओगी !
बहती जाती साथ तुम्हारे स्मृतियाँ कितनी,
दग्ध चिता के कितने हाहाकार !
नश्वरता की—थी सजीव जो—कृतियाँ कितनी,
अबलाओं की कितनी करुण पुकार !
मिलन-मुखर तट की रागिनियों का निर्मम गुंजार,
शंकाकुल कोमल मुख पर व्याकुलता का संचार,
उस असीम में ले जाओ,
मुझे न कुछ तुम दे जाओ !

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 10 मई, 1924 ('तरंगों से' शीर्षक से)। परिमल में संकलित]

देवि, तुम्हें मैं क्या दूं ?

क्या है, कुछ भी नही, ढो रहा व्यर्थ साधना-भार,
एक विफल रोदन का है यह हार—एक उपहार;
भरे आंसुओं में हैं, असफल कितने विकल प्रयास,
झलक रही है मनोवेदना, करुणा, पर-उपहास;

क्या चरणों पर ला दूं ?
और तुम्हें मैं क्या दूं ?

जड़े तुम्हारे चल अञ्चल मे चमक रहे हैं रत्न,
बरस रही माधुरी, चातुरी, कितना सफल प्रयत्न;
कवियों ने चुन-चुन पहनाये तुमको कितने हार,
वहाँ हृदय की हार—आँसुओं का अपना उपहार;

कैसे देवि, चढ़ा दूं ?
कहो, और मैं क्या दूं ?

स्वयं बढ़ा दो ना तुम करुणा-प्रेरित अपने हाथ,
अन्धकार उर को कर दो रवि-किरणों का प्लुत प्रात;
पहनो यह माला मा, उर में मेरे ये सङ्गीत,
खेलें उज्ज्वल, जिनसे प्रतिपल थी जनता भयभीत;

क्या मैं इसे बढ़ा दूं ?
और तुम्हें मैं क्या दूं ?

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 24 मई, 1924। परिमल मे संकलित]

क्या गाऊँ ?

क्या गाऊँ ?—माँ ! क्या गाऊँ ?

गूँज रही हैं जहाँ राग-रागिनियाँ,
गाती है किन्नरियाँ—कितनी परियाँ—
कितनी पचदशी कामिनियाँ,
वहाँ एक यह लेकर वीणा दीन
तन्त्री-क्षीण,—नही जिसमें कोई झंकार नवीन,
रुद्ध कण्ठ का राग अधूरा कैसे तुझे सुनाऊँ ?
माँ ! क्या गाऊँ !

छाया है मन्दिर मे तेरे यह कितना अनुराग !
चढ़ते हैं चरणों पर कितने फूल
मृदु-दल, सरस-पराग;
गन्ध-मोद-मद पीकर मन्द समीर
शिथिल चरण जब कभी बढ़ाती आती,
सजे हुए बजते उसके अधीर नूपुर-मंजीर !
वहाँ एक निर्गन्ध कुसुम उपहार,
कही-कही जिसमे पराग-संचार सुरभि-संसार
कैसे भला चढ़ाऊँ ?—
माँ ! क्या गाऊँ ?

['कवीन्द्र', मासिक, कानपुर, ज्येष्ठ, संवत् 1981 वि. (मई-जून, 1924)।
द्वितीय अनामिका मे संकलित]

प्रपात के प्रति

अचल के चचल क्षुद्र प्रपात !
मचलते हुए निकल आते हो;
उज्ज्वल ! घन-वन-अन्धकार के साथ
खेलते हो क्यों ? क्या पाते हो ?

अन्धकार पर इतना प्यार,
क्या जाने यह बालक का अविचार
बुद्ध का या कि साम्य-व्यवहार !
तुम्हारा करता है गतिरोध
पिता का कोई दूत अबोध—
किसी पत्थर से टकराते हो
फिरकर जरा ठहर जाते हो;
उसे जब लेते हो पहचान—
समझ जाते हो उस जड़ का सारा अज्ञान,
फूट पड़ती है ओठों पर तब मृदु मुस्कान;
बस अजान की ओर इशारा करके चल देते हो,
भर जाते हो उसके अन्तर में तुम अपनी तान।

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 7 जून, 1924। परिमल में संकलित]

प्रथम प्रभात

प्रथम चकित चुम्बन-सी सिहर समीर,
कँपा त्रस्त अम्बर के छोर,
उठा लाज की सरस हिलोर,
ऊषा के अधरों में अरुण अधीर,
भर मुग्धा की चितवन में अनजान,
तरुण - अरुण - यौवन - प्रभात - विज्ञान,
प्रथम सुरभि में भर उन्माद - विकास
अभी - अभी आयी थी मेरे पास।
वातायन में कर कोमल आघात
स्वप्न - जटिल जीवन - कैशोर,
उच्छृंखलता की गह डोर,
खींच रही थी अपनी ओर,—अज्ञात
निर्झरिणी की-सी विकास की लास—
गिरि-गह्वर में फूट रही सोच्छ्वास।
जगकर मैंने खोला अपना द्वार,
पाया मुख पर किरणों का अधिकार।

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 7 जून, 1924। परिमल में संकलित]

सिर्फ़ एक उन्माद

सिर्फ एक उन्माद;
न था वह यौवन का अनुराग
किन्तु यौवन ही-सा उच्छृंखल,
न चंचल शिशुता का अवसाद
किन्तु शिशु ही-सा था वह चंचल;
न कोई पाया उसमें राग
जिसे गाते जीवन-भर,
न कोई ऐसा तीव्र विराग
जिसे पा कहीं भूलते अपनापन यह क्षण-भर।
अपने लिए घोर उत्पीड़न,
किन्तु क्रीड़नक था लोगों के लिए,
पक्षी का-सा जीवन
हँसमुख किन्तु ममत्वहीन निर्दय वालों के लिए,
निरलङ्कार कवित्व अनर्गल
किसी महाकवि-कलित-कण्ठ से
झरता था जैसे अविराम कुसुम-दल।
जन-अपवाद गूँजता था, पर दूर,
क्योंकि उसे कब फ़ुर्सत—सुनता ?—था वह चूर।
न देखा उसमे कभी विषाद,
देखा सिर्फ एक उन्माद।

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 14 जून, 1924। परिमल मे संकलित]

जागी

यौवन-मरु की पहली ही मंजिल में
अस्थिर एक किरण-सी झलकी आशा,
मैं क्या जानूँ, है यह जितनी सुन्दर,
भरी हुई उतनी ही तीव्र पिपासा।

छिपकर आयी, क्या जाने क्यों आयी,
शायद सब पर ऐसे ही आती है।
चमक चौंककर चकचौंधी मे सबको
डाल, खींचकर बल से ले जाती है।

तृष्णा मुझमे ऐसे ही आयी थी,
सूखा था जब कण्ठ, बढ़ी थी मैं भी,
बार-बार छाया मे धोखा खाया,
पर हरने पर प्यास, पड़ी थी मैं भी।

धीरे-धीरे एक बाग मे आयी,
भरा हुआ तालाब एक था पाया।
दूर देख कुछ सोयी मैं छाया मे,
जागी तब न प्यास थी और न माया।

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 14 जून, 1924। परिमल में संकलित]

सन्तप्त

अपने अतीत का ध्यान
करता मैं गाता था गाने भूले अम्रियमाण!
एकाएक क्षोभ का अन्तर मे होते सञ्चार
उठी व्यथित उँगली से कातर एक तीव्र झंकार,
विकल वीणा के टूटे तार!

मेरा आकुल क्रन्दन,
व्याकुल वह स्वर-सरित-हिलोर
वायु में भरती करुण मरोर
बढ़ती है तेरी ओर।

मेरे ही क्रन्दन से उमड़ रहा यह तेरा सागर,
सदा अधीर,
मेरे ही बन्धन से निश्चल
नन्दन-कुसुम-सुरभि-मधु-मदिर समीर,

मेरे गीतों का छाया अवसाद,
देखा जहाँ, वहीं है करुणा,
घोर विषाद !

"ओ मेरे !—मेरे बन्धन-उन्मोचन !
ओ मेरे !—ओ मेरे क्रन्दन-वन्दन !"
ओ मेरे अभिनन्दन !
ये सन्तप्त लिप्त कब होंगे गीत,
हृत्तल में तव जैसे शीतल चन्दन !

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 21 जून, 1924। द्वितीय अनामिका में संकलित]

भर देते हो

भर देते हो
बार-बार प्रिय, करुणा की किरणों से
क्षुब्ध हृदय को पुलकित कर देते हो।
मेरे अन्तर मे आते हो देव निरन्तर,
कर जाते हो व्यथा - भार लघु
बार-बार कर-कञ्ज बढ़ाकर;
अन्धकार में मेरा रोदन
सिक्त धरा के अञ्चल को
करता है क्षण-क्षण—
कुसुम-कपोलों पर वे लोल शिशिर-कण;
तुम किरणों से अश्रु पोंछ लेते हो,
नव प्रभात जीवन मे भर देते हो।

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 21 जून, 1924। परिमल में संकलित]

आदान-प्रदान

कठिन शृंखला बजा-बजाकर
गाता हूँ अतीत के गान,
मुझ भूले पर उस अतीत का
क्या ऐसा ही होगा ध्यान?
शिशु पाते हैं माताओं के
वक्षःस्थल पर भूला गान,
माताएँ भी पातीं शिशु के
अधरों पर अपनी मुसकान।

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 21 जून, 1924। परिमल में संकलित]

कण

तुम तो अखिल विश्व में
या यह अखिल विश्व है तुममें,
अथवा अखिल विश्व तुम एक
यद्यपि देख रहा हूँ तुममें भेद अनेक?
बिंदु! विश्व के तुम कारण हो
या यह विश्व तुम्हारा कारण?
कार्य पंचभूतात्मक तुम हो
या कि तुम्हारे कार्य भूतगण?
आवर्तन-परिवर्तन के तुम नायक नीति-निधान
परिवर्तन ही या कि तुम्हारा
भाग्य-विधायक है बलवान?
पाया हाय न अब तक इसका भेद,
सुलझी नहीं ग्रन्थि मेरी, कुछ मिटा न खेद!
कभी देखता अट्टालिका-विनोद मोद में
बैठे महाराज तुम दिव्य-शरीर,
कभी देखता, मार्ग-मृत्तिका-मलिन गोद में
हो कहराते व्याधि-विशीर्ण अधीर;

कभी परागों में फुर-फुर उड़ते हो,
और कभी आँधी में पड़ फुड़ते हो;
क्या जाने क्यों कभी हास्यमय
और कभी जब आता असमय
क्यों भरते दुख-नीर!
ताक रहे आकाश,
बीत गये कितने दिन—कितने मास!
विरह-विधुर उर में न मधुर आवेश,
केवल शेष
क्षीण हुए अन्तर में है आभास,
प्रिय-दर्शन की प्यास;
ताक रहे आकाश,
बीत गये कितने दिन—कितने मास!
पड़े हुए सहते हो अत्याचार
पद-पद पर सदियों के पद-प्रहार;
बदले में, पद में कोमलता लाते,
किन्तु हाय, वे तुम्हें नीच ही हैं कह जाते!
तुम्हें नहीं अभिमान,
छूटे कहीं न प्रिय का ध्यान,
इससे सदा मौन रहते हो,
क्यों रज, विरज के लिए ही इतना सहते हो?

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 28 जून, 1924। परिमल में संकलित]

यमुना के प्रति

स्वप्नों-सी उन किन आँखों की
पल्लव-छाया में अम्लान
यौवन की माया-सा आया
मोहन का सम्मोहन ध्यान?

गन्धलुब्ध किन अलिबालों के
मुग्ध हृदय का मृदु गुञ्जार
तेरे दृग-कुसुमों की सुषमा
जाँच रहा है बारम्बार?

यमुने, तेरी इन लहरों में
किन अधरों की आकुल तान
पथिक-प्रिया-सी जगा रही है
उस अतीत के नीरव गान?

बता, कहाँ अब वह वंशीवट?
कहाँ गये नटनागर श्याम?
चल-चरणों का व्याकुल पनघट
कहाँ आज वह वृन्दाधाम?

कभी यहाँ देखे थे जिनके
श्याम-विरह से तप्त शरीर,
किस विनोद की तृषित गोद मे
आज पोंछती वे दृग-नीर?

रञ्जित सहज सरल चितवन मे
उत्कण्ठित सखियों का प्यार
क्या आँसू-सा ढुलक गया वह
विरह-विधुर उर का उद्गार?

तू किस विस्मृत की वीणा से
उठ-उठकर कातर झङ्कार
उत्सुकता से उकता-उकता
खोल रही स्मृति के दृढ द्वार?

अलस प्रेयसी-सी स्वप्नों में
प्रिय की शिथिल सेज के पास
लघु लहरों के मधुर स्वरों मे
किस अतीत का गूढ विलास?

उर-उर मे नूपुर की ध्वनि-सी
मादकता की तरल तरङ्ग
विचर रही है मौन पवन मे
यमुने, किस अतीत के संग?

किस अतीत का दुर्जन जीवन
अपनी अलकों में सुकुमार
कनक-पुष्प-सा गूँथ लिया है—
किसका है यह रूप अपार?

निर्निमेष नयनों में छाया
किस विस्मृति-मदिरा का राग
जो अब तक पुलकित पलकों से
छलक रहा यह विपुल सुहाग?

मुक्त हृदय के सिंहासन पर
किस अतीत के ये सम्राट
दीप रहे जिनके मस्तक पर
रवि - शशि - तारे - विश्व - विराट?

निखिल विश्व की जिज्ञासा-सी
आशा की तू झलक, अमन्द
अन्त:पुर की निज शय्या पर
रच-रच मृदु छन्दों के बन्द

किस अतीत के स्नेह-सुहृद को
अर्पण करती तू निज ध्यान—
ताल-ताल के कम्पन से द्रुत
बहते हैं ये किसके गान?

विहगों की निद्रा में नीरव
कानन के संगीत अपार,
किस अतीत के स्वप्न-लोक में
करते हैं मृदु - पद - संचार?

मुग्धा के लज्जित पलकों पर
तू यौवन की छवि अज्ञात,
आँख-मिचौनी खेल रही है
किस अतीत शिशुता के साथ?

किस अतीत सागर-संगम को
बहते खोल हृदय के द्वार
बोहित के हित सरल अनिल-से
नयन-सलिल के स्रोत अपार?

उस सलज्ज ज्योत्स्ना-सुहाग की
फेनिल शय्या पर सुकुमार,
उत्सुक, किस अभिसार निशा मे
गयी कौन स्वप्निल पर मार?

उठ-उठकर अतीत-विस्मृति से
किसकी स्मिति यह—किसका प्यार,
तेरे श्याम कपोलो मे खुल
कर जाती है चकित विहार?

जीवन की इस सरस सुरा मे,
कह, यह किसका मादक राग
फूट पड़ा तेरी ममता मे
जिसकी समता का अनुराग?

किन नियमों के निर्मम बन्धन
जग की संसृति का परिहास
कर बन जाते करुणा-क्रन्दन?—
कह, वे किसके निर्दय पाश?

कलियो की मुद्रित पलकों में
सिसक रही जो गन्ध अधीर
जिसकी आतुर दुख-गाथा पर
ढुलकाते पल्लव-दृग नीर,

बता, करुण-कर-किरण बढ़ाकर
स्वप्नों का सचित्र संसार
आँसू पोछ दिखाया किसने
जगती का रहस्यमय द्वार?

जागृति के नव इस जीवन में
किस छाया का माया-मन्त्र
गूँज-गूँज मृदु खींच रहा है
अति, दुर्बल जन का मन-यन्त्र ?

अलि-अलकों के तरल तिमिर मे
किसकी लोल लहर अज्ञात
जिसके गूढ मर्म में निश्चित
शशि-सा मुख, ज्योत्स्ना-सी गात ?

कह, सोया किस खञ्जन-वन में
उन नयनो का अञ्जन-राग ?
बिखर गये अब किन पातों में
वे कदम्ब - मुख - स्वर्ण - पराग ?

चमक रहे अब किन तारो में
उन हीरो के मुक्ता-हीर ?
बजते हैं उन किन चरणों मे
अब अधीर नूपुर-मञ्जीर ?

किस समीर से काँप रही वह
वशी की स्वर-सरित-हिलोर ?
किस वितान मे तनी प्राण तक
छू जाती वह करुण मरोर ?

खींच रही किस आशा-पथ पर
यौवन की वह प्रथम पुकार ?
सींच रही लालसा-लता निज
किस कङ्कण की मृदु झङ्कार ?

उमड चला है कह किस तट पर
क्षुब्ध प्रेम का पारावार ?
किसकी विकच वीचि-चितवन पर
अब होता निर्भय अभिसार ?

भटक रहे हैं किसके मृग-दृग ?
बैठी पथ पर कौन निराश ?—
मारी मरु-मरीचिका की-सी
ताक रही उदास आकाश।

हिला रहा अब कुञ्जों के किन
द्रुम-पुञ्जों का हृदय कठोर,
विगलित विफल वासनाओं से
क्रन्दन-मलिन पुलिन का छोर ?

किस प्रसाद के लिए बढ़ा अब
उन नयनों का विरस विषाद ?
किस अजान में छिपा आज वह
श्याम गगन का घन उन्माद ?

कह, किस अलस मराल-चाल पर
गूँज उठे सारे सङ्गीत,
पद-पद के लघु ताल-ताल पर
गति स्वच्छन्द, अजीत अभीत ?

स्मिति-विकसित नीरज नयनों पर
स्वर्ण - किरण - रेखा अम्लान
साथ-साथ प्रिय तरुण अरुण के
अन्धकार में छिपी अजान !

किस दुर्गम गिरि के कन्दर में
डूब गया जग का निःश्वास ?
उतर रहा अब किस अरण्य पर
दिनमणि-हीन अस्त आकाश ?

आप आ गया प्रिय के कर में
कह, किसका वह कर सुकुमार
विटप-विहग ज्यों फिरा नीड़ में
सहम तमिस्र देख संसार ?

स्मर-सर के निर्मल अन्तर में
देखा था जो शशि प्रतिभात,
छिपा लिया है उसे जिन्होंने
हैं वे किस घन वन के पात ?

कहाँ आज वह निद्रित जीवन
बँधा बाहुओं में भी मुक्त ?
कहाँ आज वह चितवन चेतन
श्याम-मोह-कज्जल अभियुक्त ?

वह नयनों का स्वप्न मनोहर
हृदय - सरोवर का जलजात,
एक चन्द्र निस्सीम व्योम का,
वह प्राची का विमल प्रभात,

वह राका की निर्मल छवि, वह
गौरव रवि, कवि का उत्साह,
किस अतीत से मिला आज वह
यमुने, तेरा सरस प्रवाह ?

खींच रहा है मेरा मन वह
किस अतीत का इंगित मौन
इस प्रसुप्ति से जगा रही जो
बता, प्रिया-सी है वह कौन ?

वह अविकार निविड-सुख-दुख-गृह,
वह उच्छृंखलता उद्दाम,
वह संसार भीरु-दृग-संकुल,
ललित-कल्पना-गति अभिराम,

वह वर्षो का हर्षित क्रीड़न,
पीडन का चञ्चल संसार,
वह विलास का लास-अङ्क, वह
भृकुटि कुटिल प्रिय-पथ का पार;

वह जागरण मधुर अधरो पर,
वह प्रसुप्ति नयनों में लीन,
मुग्ध मौन मन मे उन्मुख सुख
आकर्पणमय नित्य नवीन,

वह सहसा सजीव कम्पन-द्रुत
सुरभि - समीर, अधीर वितान,
वह सहसा स्तम्भित वक्षःस्थल,
टलमल पद, प्रदीप निर्वाण,

गुप्त-रहस्य-सृजन-अतिशय श्रम,
वह क्रम-क्रम से सञ्चित ज्ञान,
स्खलित-वसन-तनु-सा तनु अमरण,
नग्न, उदास, व्यथित अभिमान;

वह मुकुलित लावण्य लुप्तमधु,
सुप्त पुष्प मे विकल विकास,
वह सहसा अनुकूल प्रकृति के
प्रिय दुकूल मे प्रथम प्रकाश;

वह अभिराम कामनाओं का
लज्जित उर, उज्ज्वल विश्वास,
वह निष्काम दिवा-विभावरी,
वह स्वरूप - मद - मञ्जुल हास;

वह सुकेश - विस्तार कुञ्ज मे
प्रिय का अति उत्सुक सन्धान,
तारो के नीरव समाज में
यमुने, यह तेरा मृदु गान;

वह अतृप्त - आग्रह मे सिञ्चित
विरह-विटप का मूल मलीन
अपने ही फूलो से वंचित
वह गौरव-कर निष्प्रभ, क्षीण;

वह निशीथ की नग्न वेदना,
दिन की दम्य दुराशा आज
कहाँ अँधेरे का प्रिय परिचय,
कहाँ दिवस की अपनी लाज ?

उदासीनता गृह-कर्मों में,
मर्म-मर्म में विकसित स्नेह,
निरपराध हाथों में छाया
अञ्जन-रञ्जन-भ्रम, सन्देह;

विस्मृत-पथ-परिचायक स्वर से
छिन्न हुए सीमा-दृढ़ पाश,
ज्योत्सना के मण्डप में निर्भय
कहाँ हो रहा है वह रास ?

वह कटाक्ष-चञ्चल यौवन-मन
वन-वन प्रिय-अनुसरण-प्रयास,
वह निष्पलक सहज चितवन पर
प्रिय का अचल अटल विश्वास;

अलक-सुगन्ध-मदिर सरि-शीतल
मन्द अनिल, स्वच्छन्द प्रवाह,
वह विलोल हिल्लोल चरण, कटि,
भुज, ग्रीवा का वह उत्साह;

मत्त-भृंग-सम सङ्ग-सङ्ग तम-
तारा मुख-अम्बुज-मधु-लुब्ध,
विकल विलोडित चरण-अंक पर
शरण-विमुख नूपुर-उर क्षुब्ध;

वह संगीत विजय-मद-गर्वित
नृत्य-चपल अधरों पर आज,
वह अजीत-इङ्गित मुखरित-मुख
कहाँ आज वह सुखमय साज ?

वह अपनी अनुकूल प्रकृति का
फूल, वृन्त पर विकच अधीर,
वह उदार, सवाद विश्व का
वह अनन्त नयनों का नीर,

वह स्वरूप-मध्याह्न-तृषा का
प्रचुर आदि - रस, वह विस्तार
सफल प्रेम का, जीवन के वह
दुस्तर सर - सागर का पार;

वह अञ्जलि कलिका की कोमल,
वह प्रसून की अन्तिम दृष्टि,
वह अनन्त का ध्वस सान्त, वह
सान्त विश्व की अगणित सृष्टि;

वह विराम-अलसित पलकों पर
सुधि की चञ्चल प्रथम तरङ्ग,
वह उद्दीपन, वह मृदु कम्पन
वह अपनापन, वह प्रिय - सङ्ग;

वह अज्ञात पतन लज्जा का
स्खलन शिथिल घूँघट का देख
हास्य-मधुर निर्लज्ज उक्ति वह,
वह नव यौवन का अभिषेक;

मुग्ध रूप का वह क्रय - विक्रय,
वह विनिमय का निर्दय भाव,
कुटिल करों को सौंप सुहृद - मन,
वह विस्मरण, मरण, वह चाव,

असफल छल की सरल कल्पना,
ललनाओं का मृदु उद्‌गार
बता, कहाँ विक्षुब्ध हुआ. वह
दृढ़ - यौवन का पीन उभार;

उठा तूलिका मृदु चितवन की,
भर मन की मदिरा में मौन,
निर्निमेष नभ-नील-पटल पर
अटल खींचती छवि, वह कौन ?

कहाँ यहाँ अस्थिर तृष्णा का
बहता अब वह स्रोत अजान ?
कहाँ हाय निरुपाय तृणों से
बहते अब वे अगणित प्राण ?

नही कही नयनो मे पाया
नही समाया वह अपराध,
कहाँ, कहाँ अधिकृत अधरों पर
उठता वह सङ्गीत अबाध ?

मिली विरह के दीर्घ श्वास से
बहती नही कहीं वातास,
कहाँ सिसककर मलिन मर्म मे
मुरझा जाता है निःश्वास ?

कहाँ छलकते अब वैसे ही
व्रज - नागरियों के गागर ?
कहाँ भीगते अब वैसे ही
बाहु, उरोज, अधर, अम्बर ?

बँधा बाहुओं में घट क्षण-क्षण
कहाँ प्रकट बकता अपवाद ?
अलको को, किशोर पलकों को
कहाँ वायु देती संवाद ?

कहाँ कनक - कोरों के नीरव
अश्रु - कणों में भर मुसकान,
विरह-मिलन के एक साथ ही
खिल पड़ते वे भाव महान !

कहाँ सूर के रूप - बाग के
दाड़िम, कुन्द, विकच अरविन्द,
कदली, चम्पक, श्रीफल, मृगशिशु
खंजन, शुक, पिक, हंस, मिलिन्द !

एक रूप मे कहाँ आज वह
हरि - मृग का निर्वैर विहार,
काले नागो से मयूर का
बन्धु - भाव, सुख सहज अपार !

पावस की प्रगल्भ धारा मे
कुञ्जो का वह कारागार,
अब जग के विस्मित नयनों मे
दिवस-स्वप्न-सा पड़ा असार !

द्रव - नीहार अचल - अधरो से
गल-गल गिरि - उर के सन्ताप,
तेरे तट से अटक रहे थे
करते अब सिर पटक विलाप;

विवश दिवस के - से आवर्तन
बढते है अम्बुधि की ओर,
फिर-फिर फिर भी ताक रहे है
कोरो मे निज नयन मरोर !

एक रागिनी रह जाती जो
तेरे तट पर मौन उदास,
स्मृति-सी भग्न भवन की, मन को
दे जाती अति क्षीण प्रकाश।

टूट रहे हैं पलक - पलक पर
तारों के ये जितने तार,
जग के अब तक के रागों से
जिनमे छिपा पृथक् गुञ्जार,

मेरे जीवन का यह है जब प्रथम चरण,
इसमे कहाँ मृत्यु
है जीवन ही जीवन।
अभी पड़ा है आगे सारा यौवन;
स्वर्ण-किरण-कल्लोलों पर बहता रे यह बालक-मन;

मेरे ही अविकसित राग से
विकसित होगा बन्धु दिगन्त—
अभी न होगा मेरा अन्त।

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 12 जुलाई, 1924 ('अपनी-ध्वनि' शीर्षक से)। परिमल में संकलित]

आग्रह

माँ, मुझे वहाँ तू ले चल!

देखूँगा वह द्वार—
दिवस का पार—
मूर्च्छित हुआ पड़ा है जहाँ
वेदना का संसार!
वेदना का संसार,
करती है तटिनी तरणी से छल-बल—
मुझे वहाँ तू ले चल!

उतर रही है लिये हाथ में प्यारा तारा-दीप
उस अरण्य में बढ़ा रही है पैर, सभीत,
बता, कौन वह?
किसका है वह अन्धकार का अञ्चल—
मुझे वहाँ तू ले चल!

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 12 जुलाई, 1924। परिमल में संकलित]

[1]

झूम-झूम मृदु गरज-गरज घन घोर !
राग-अमर ! अम्बर में भर निज रोर !

झर झर झर निर्झर-गिरि-सर मे,
घर, मरु, तरु-मर्मर, सागर मे,
सरित—तड़ित-गति—चकित पवन ·
मन में, विजय-गहन-कानन में,
आनन-आनन मे, रव-घोर-कठोर—
राग-अमर ! अम्बर मे भर निज रोर !

अरे वर्ष के हर्ष !
बरस तू, बरस-बरस रसधार !
पार ले चल तू मुझको,
बहा, दिखा मुझको भी निज
गर्जन-गौरव-संसार !
उथल-पुथल कर हृदय—
मचा हलचल —
चल रे चल,—
मेरे पागल बादल !
धँसता दलदल,
हँसता है नद खल्-खल्
बहता, कहता कुलकुल कलकल कलकल।
देख-देख नाचता हृदय
बहने को महाविकल—बेकल,
इस मरोर से—इसी शोर से—
सघन घोर गुरु गहन रोर से
मुझे—गगन का दिखा सघन वह छोर !
राग-अमर ! अम्बर मे भर निज रोर !

[2]

ऐ निर्बन्ध !
अन्ध-तम-अगम-अनर्गल—बादल !

ऐ स्वच्छन्द !
मन्द-चञ्चल-समीर-रथ पर उच्छृंखल !
ऐ उद्दाम !
अपार कामनाओं के प्राण !
बाधारहित विराट !
ऐ विप्लव के प्लावन !
सावन-घोर गगन के
ऐ सम्राट !
ऐ अटूट पर छूट टूट पडनेवाले—उन्माद !
विश्व-विभव को लूट-लूट लड़नेवाले—अपवाद !
श्री बिखेर, मुख-फेर कली के निष्ठुर पीडन !
छिन्न भिन्न कर पत्र-पुष्प-पादप-वन उपवन,
वज्र-घोष से ऐ प्रचण्ड !
आतंक जमानेवाले !
कम्पित जंगम,—नीड़-विहंगम,
ऐ न व्यथा पानेवाले !
भय के मायामय आँगन पर
गरजो विप्लव के नव जलधर !

[3]

सिन्धु के अश्रु !
धरा के खिन्न दिवस के दाह !
विदाई के अनिमेष नयन !
मौन उर मे चिह्नित कर चाह
छोड अपना परिचित संसार—
सुरभि का कारागार,
चले जाते हो सेवा-पथ पर,
तरु के सुमन !
सफल करके
मरीचिमाली का चारु चयन ।
स्वर्ग के अभिलाषी हे वीर,
सव्यसाची-से तुम अध्ययन-अधीर
अपना मुक्त विहार,
छाया में दुख के अन्त.पुर का उद्घाटित द्वार
छोड़ बन्धुओं के उत्सुक नयनों का सच्चा प्यार,
जाते हो तुम अपने पथ पर,

स्मृति के गृह में रराकर
अपनी सुधि के सज्जित तार।
पूर्ण-मनोरथ ! आये—
तुम आये;
रथ का घर्घर-नाद
तुम्हारे आने का संवाद।
ऐ त्रिलोक-जित् ! इन्द्र-धनुर्धर !
सुरबालाओं के सुख-स्वागत !
विजय ! विश्व में नवजीवन भर,
उतरो अपने रथ से भारत !
उस अरण्य में बैठी प्रिया अधीर,
कितने पूजित दिन अब तक हैं व्यर्थ,
मौन कुटीर।
आज भेंट होगी—
हाँ, होगी निस्सन्देह,
आज सदा-सुख-छाया होगा कानन-गेह
आज अनिश्चित पूरा होगा श्रमित प्रवास,
आज मिटेगी व्याकुल श्यामा के अधरों की प्यास।

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, के 26 जुलाई, 2 अगस्त और 9 अगस्त, 1924 के अंकों में क्रमशः प्रकाशित। परिमल में संकलित]

स्वागत

कितने ही विघ्नों का जाल
जटिल, अगम, विस्तृत पथ पर विकराल;
कण्टक, कर्दम, भय-श्रम-निर्मम कितने शूल;
हिंस्र निशाचर, भूधर, कन्दर पशु-संकुल
पथ घन तम, अगम अकूल—
पार—पार करके आये, हे नूतन !
सार्थक जीवन ले आये
श्रम-कण में बन्धु, सफल-श्रम !

सिर पर कितना गरजे
वज्र-बादल,
उपल-वृष्टि, फिर शीत घोर, फिर ग्रीष्म प्रबल।
साधक, मन के निश्चल,
पथ के सचल,
प्रतिज्ञा के हे अचल अटल!
पथ पूरा करके आये तुम,
स्वागत ऐ प्रिय-दर्शन,
आये, नव-जीवन भर लाये।

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 16 अगस्त, 1924। परिमल में संकलित]

स्वाधीनता पर [1]

स्वाधीन—
स्वाधीन है यह विश्व
अथवा है पराधीन?
आज तक कितने ही गूढ़ मस्तिष्कों मे
आया यह प्रश्न,
पर उत्तर अज्ञात—
अज्ञात ही बना रहा!
पल्लव झड़ते है जब
तरु के अति जीर्ण तनु को देखते हैं एक बार,
किन्तु शास्त्र कहते हैं—
"गमन और आगम का
चक्रवत् परिवर्तन नियम है अविनाशी;
पल्लव जब आये थे,
आये स्वाधीन;
जाते हैं अपनी ही इच्छा से मुक्त—स्वाधीन।"
मुक्त स्वाधीन!
मर्मर में रोते हैं कौन फिर?—
हैं वे स्वाधीन
तो क्यों फिर सुनाते हैं करुणा-राग?

माया है,
माया क्या ?
माया नहीं जानता मैं,···
जानता हूँ एक बस स्वाधीन शब्द ।
बहती है समीर,
पुष्प के शून्य उर में लेती स्वाधीन साँस,
पाती है सुरभि स्वाधीन गति।···
आवर्तन-परिवर्तन-नर्तन-सुखकीर्तन में,—
विपुल उल्लासमय विश्व के क्षण-क्षण में,—
भूधर महान और क्षुद्र कण-कण में
एक स्वाधीनता का गूँजता है विपुल हर्ष ।

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 23 अगस्त, 1924 । असंकलित कविताएँ में संकलित]

स्वाधीनता पर [2]

भ्रमर का गुंजार,
वह भी स्वाधीन;
पक्षियों का कलरव,
वह भी स्वाधीन
उदय-अस्त दिनकर का,
तिमिर-हर के अन्तर से
तिमिर का उद्गम
और तम के हृदय से
निशानाथ का प्रकाश,
सब हैं स्वाधीन,···
मेरे साथ मेरे विचार—
मेरे जाति—
मेरे पददलित—
मौन हैं—निद्रित हैं—
स्वप्न में भी पराधीन !

कितनी बड़ी दुर्बलता !
आता जब भूमिकम्प,
कौन रोक सकता है उसकी गति ?
गरज उठते जब मेघ,
कौन रोक सकता है विपुल नाद ?
उपल-दल
नष्ट जब करते हैं श्याम शस्य,
कौन-सी व्यवस्था वह
रोक रखती है उन्हें ?
समझा मैं,
भय ही व्यवस्था का जनक है,
निर्भय अपने को
और दुर्बल समाज को
करके दिखाना है—
'स्वाधीन' का ही
एक और अर्थ 'निर्भय' है।

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 30 अगस्त, 1924। असंकलित कविताएँ में संकलित]

बादल-राग

[4]

उमड़ सृष्टि के अन्तहीन अम्बर से,
घर से क्रीड़ारत बालक-से,
ऐ अनन्त के चञ्चल शिशु सुकुमार !
स्तब्ध गगन को करते हो तुम पार।
अन्धकार—घन अन्धकार ही
क्रीड़ा का आगार।
चौंक चमक छिप जाती विद्युत
तडिद्दाम अभिराम,
तुम्हारे कुञ्चित केशों मे
अधीर विक्षुब्ध ताल पर
एक इमन का-सा अति मुग्ध विराम।

वर्ण रश्मियों-से कितने ही
छा जाते हैं मुख पर—
जग के अन्तस्थल से उमड़
नयन-पलकों पर छाये सुख पर;
रंग अपार
किरण-तूलिकाओं से अंकित
इन्द्रधनुष के सप्तक, तार;—
व्योम और जगती के राग उदार
मध्यदेश में, गुडाकेश !
गाते हो वारम्वार।
मुक्त ! तुम्हारे मुक्त कण्ठ में
स्वरारोह, अवरोह, विघात,
मधुर मन्द्र, उठ पुनः पुनः ध्वनि
छा लेती है गगन, श्याम कानन,
सुरभित उद्यान,
झर-झर-रव भूधर का मधुर प्रपात।
वधिर विश्व के कानों में
भरते हो अपना राग,
मुक्त शिशु ! पुनः पुनः एक ही राग अनुराग।

[5]

निरञ्जन बने नयन-अञ्जन !
कभी चपल गति, अस्थिर मति,
जल-कलकल तरल प्रवाह,
वह उत्थान-पतन-हत अविरत
संसृति-गत उत्साह,
कभी दुख-दाह
कभी जलनिधि-जल विपुल अथाह,—
कभी क्रीड़ारत सात प्रभञ्जन—
बने नयन-अञ्जन !
कभी किरण-कर पकड़-पकड़कर
चढ़ते हो तुम मुक्त गगन पर,
झलमल ज्योति अयुत-कर-किंकर,
सीस झुकाते तुम्हे तिमिरहर—
अहे कार्य से गत कारण पर !
निराकार, हैं तीनों मिले भुवन—

बने नयन-अञ्जन !
आज श्याम-घन श्याम, श्याम छवि,
मुक्त-कण्ठ है तुम्हें देख कवि,
अहो कुसुम-कोमल कठोर-पवि !
शत-सहस्र-नक्षत्र-चन्द्र रवि संस्तुत
नयन-मनोरञ्जन !
बने नयन-अञ्जन !

[6]

तिरती है समीर-सागर पर
अस्थिर सुख पर दुख की छाया—
जग के दग्ध हृदय पर
निर्दय विप्लव की प्लावित माया—
यह तेरी रण-तरी
भरी आकांक्षाओं से,
घन, भेरी-गर्जन से सजग सुप्त अंकुर
उर में पृथ्वी के, आशाओं से
नवजीवन की, ऊँचा कर सिर,
ताक रहे हैं, ऐ विप्लव के बादल !
फिर-फिर।
बार-बार गर्जन
वर्षण है मूसलधार,
हृदय थाम लेता संसार,
सुन-सुन घोर वज्र-हुङ्कार।
अशनि-पात से शायित उन्नत शत-शत वीर,
क्षत-विक्षत हत अचल-शरीर,
गगन-स्पर्शी स्पर्द्धा-धीर।
हँसते हैं छोटे पौधे लघुभार—
शस्य अपार,
हिल-हिल,
खिल-खिल,
हाथ हिलाते,
तुझे बुलाते,
विप्लव-रव से छोटे ही हैं शोभा पाते।
अट्टालिका नहीं है रे
आतङ्क-भवन,

सदा पङ्क पर ही होता
जल-विप्लव-प्लावन,
क्षुद्र प्रफुल्ल जलज से
सदा छलकता नीर,
रोग-शोक में भी हँसता है
शैशव का सुकुमार शरीर।
रुद्ध कोष है, क्षुब्ध तोष
अङ्गना-अङ्ग से लिपटे भी
आतङ्क-अङ्क पर काँप रहे हैं।
धनी, वज्र-गर्जन से बादल !
त्रस्त नयन-मुख ढाँप रहे हैं।
जीर्ण बाहु, है शीर्ण शरीर,
तुझे बुलाता कृषक अधीर,
ऐ विप्लव के वीर !
चूस लिया है उसका सार,
हाड़-मात्र ही है आधार,
ऐ जीवन के पारावार !

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, के 6 सितम्बर, 13 सितम्बर और 20 सितम्बर, 1924 के अंकों मे क्रमश: प्रकाशित। परिमल मे संकलित]

दीन

सह जाते हो
उत्पीड़न की क्रीड़ा सदा निरंकुश नग्न,
हृदय तुम्हारा दुर्बल होता भग्न,
अन्तिम आशा के कानों मे
स्पन्दित हम-सबके प्राणों मे
अपने उर की तप्त व्यथाएँ,
क्षीण कण्ठ की करुण कथाएँ
कह जाते हो
और जगत् की ओर ताककर
दुःख, हृदय का क्षोभ त्यागकर,
सह जाते हो।

कह जाते हो—
"यहाँ कभी मत आना,
उत्पीड़न का राज्य, दुःख ही दु:ख
यहाँ है सदा उठाना,
क्रूर यहाँ पर कहलाता है शूर,
और हृदय का शूर सदा ही दुर्बल क्रूर;
स्वार्थ सदा ही रहता परार्थ से दूर,
यहाँ परार्थ वही, जो रहे
स्वार्थ से ही भरपूर;
जगत् की निद्रा, है जागरण,
और जागरण, जगत् का—इस संसृति का
अन्त—विराम—मरण।
अविराम घात—आघात,
आह ! उत्पात !
यही जग-जीवन के दिन-रात।
यही मेरा, इनका, उनका, सबका स्पन्दन,
हास्य से मिला हुआ क्रन्दन।
यही मेरा, इनका, उनका, सबका जीवन,
दिवस का किरणोज्ज्वल उत्थान,
रात्रि की सुप्ति, पतन;
दिवस की कर्म-कुटिल तम-भ्रान्ति,
रात्रि का मोह, स्वप्न भी भ्रान्ति,
सदा अशान्ति !"

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 27 सितम्बर, 1924। परिमल में संकलित]

'कवि' के प्रति

धन्य जन्म; जीवन, यौवन !
'कवि' ! रवि-सा तू भी छवि-छवि पर—
छोड़ सतत - मधु - मधुर किरन !
निज अनुपम कृति खोल प्रकृति से

कर सुरभित मन, वन-उपवन—
भर दे सब में नवजीवन॥
रुचि - शुचि - कलियों को अलियों-सा—
घेर-घेरकर मृदु गुंजन।
'कवि' निरवधि नव-रस-निधि में तू—
रह, बह, मह जा विकच वचन—
कर प्रियतम का आराधन॥

['कवि', मासिक, कानपुर, मार्गशीर्ष, संवत् 1981 वि. (नवम्बर-दिसम्बर, 1924)। असंकलित]

प्याला

मृत्यु - निर्माण प्राण - नश्वर
कौन देता प्याला भर-भर?

मृत्यु की बाधाएँ, बहु द्वन्द
पार कर कर जाते स्वच्छन्द
तरङ्गों में भर अगणित रङ्ग,
जङ्ग जीते, मर हुए अमर।

गीत अनगिनित, नित्य नव छन्द
विविध शृङ्खल, शत मङ्गल-बन्द,
विपुल नव-रस पुलकित आनन्द
मन्द मृदु झरता है झर-झर।

नाचते ग्रह, तारा-मण्डल,
पलक में उठ गिरते प्रतिपल,
धरा घिर घूम रही चञ्चल,
काल-गुणत्रय-भय-रहित समर।

भ्रान्ति और प्रतीति की
चल रही थी तूलिका;
विश्व पर विश्वास छाया था नया।
कल्प-तरु के नये कोंपल थे उगे।

हिल चुका हूँ मैं हवा में; हानि क्या
यदि झड़ूँ, बहता फिरूँ मैं अन्तहीन प्रवाह में
तब तक न जब तक दूर हो निज ज्ञान—
नारायण मिलें हँस अन्त में।

[रचनाकाल : 25 जून, 1925। द्वितीय अनामिका में संकलित]

स्मृति

जटिल जीवन - नद में तिर - तिर
डूब जाती हो तुम चुपचाप
सतत द्रुत गतिमयि अयि फिर-फिर,
उभड़ करती हो प्रेमालाप;

सुप्त मेरे अतीत के गान
सुना, प्रिय, हर लेती हो ध्यान!

सफल जीवन के सब असफल,
कहीं की जीत, कहीं की हार,
जगा देता मधु - गीत सकल
तुम्हारा ही निर्मम झंकार;

वायु-व्याकुल शतदल-सा हाय,
विकल रह जाता हूँ निरुपाय!

मुक्त शैशव मृदु - मधुर मलय,
स्नेह-कम्पित किसलय नव गात,

कुसुम अस्फुट नव - नव संचय,
मृदुल वह जीवन कनक-प्रभात;

आज निद्रित अतीत में बन्द
ताला वह, गति वह, लय वह छन्द !

आँसुओं से कोमल झर - झर
स्वच्छ निर्झर-जल-कण-से प्राण
सिमट सट-सट अन्तर भर-भर
जिसे देते थे जीवन - दान

वही चुम्बन की प्रथम हिलोर
स्वप्न-स्मृति, दूर, अतीत, अछोर !

पली सुख-वृन्तों की कलियाँ—
विटप उर की अवलम्बित हार—
विजन-मन-मुदित सहेलरियाँ—
स्नेह-उपवन की सुख, शृंगार,

आज खुल-खुल गिरतीं असहाय,
विटप वक्षःस्थल से निरुपाय !

मूर्ति वह यौवन की बढ़-बढ़—
एक अश्रुत भाषा की तान,
उमड़ चलती फिर-फिर अड़-अड़
स्वप्न-सी जड़ नयनों में मान;

मुक्त-कुन्तल मुख व्याकुल लोल !
प्रणय-पीड़ित वे अस्फुट बोल !

तृप्ति वह तृष्णा की अविकृत,
स्वर्ग आशाओं की अभिराम,
क्लान्ति की सरल मूर्ति निद्रित,
गरल की अमृत, अमृत की प्राण,

रेणु वह किस दिगन्त में लीन
वेणु ध्वनि-सी न शरीराधीन !

सरल - शैशव - श्री सुख - यौवन
केलि अलि-कलियों की सुकुमार,
अशंकित नयन, अधर - कम्पन
हरित-हृत्-पल्लव-नव शृंगार;

दिवस-द्युति छवि निरलस अविकार,
विश्व की श्वसित छटा-विस्तार।

नियति - सन्ध्या में मुँदे सकल
वही दिनमणि के अगणित साज,
न हैं वे कुसुम, न वह परिमल,
न हैं वे अधर, न है वह लाज!

तिमिर-ही-तिमिर रहा कर पार
लक्ष - वक्षःस्थलार्गलित द्वार!

उषा-सी क्यों तुम कहो, द्विदल
सुप्त पलकों पर कोमल हाथ
फेरती हो ईप्सित मंगल,
जगा देती हो वही प्रभात!

वही सुख, वही भ्रमर-गुञ्जार!
वही मधु - गलित पुष्प - संसार!

जगत-उर की गत अभिलाषा,
शिथिल तन्त्री की सोयी तान,
दूर विस्मृति की मृत भाषा
चिता की चिरता का आह्वान,

जगाने मे है क्या आनन्द?
शृंखलित गाने मे क्या छन्द?

मुँदी जो छवि चलते दिन की
शयन - मृदु नयनों में सुकुमार,
मलिन जीवन - सन्ध्या जिनकी
हो रही हो विस्मृति मे पार,

चित्र वह स्वप्नो मे क्यों खींच
सुरा उर मे देती हो सींच?

छिपी जो छवि, छिप जाने दो,
खोलते हुए तुम्हें क्यो चाव?
दुखद वह झलक न आने दो
हमें खेने भी तो दो नाव?

हुए क्रमशः दुर्बल ये हाथ,
दूसरे और न कोई साथ!

बँधे जीवों की बन माया
फेरती फिरती हो दिन - रात,
दुःख-सुख के स्वर की काया,
सुनाती है पूर्व - श्रुत बात,

जीर्ण जीवन का दृढ़ संस्कार
चलाता फिर नूतन संसार?

यही तो है जग का कम्पन—
अचलता में सुस्पन्दित प्राण—
अहंकृति में झंकृति—जीवन—
सरस अभिराम पतन-उत्थान—

दया-भय-हर्ष, क्रोध - अभिमान
दुःख - सुख - तृष्णा-ज्ञानाज्ञान।

रश्मि से दिनकर की सुन्दर
अन्ध-वारिद-उर मे तुम आप
तूलिका मे अपनी रचकर
खोल देती हो हर्षित चाप,

उगा नव आशा का संसार
चकित छिप जाती हो उस पार!

पवन में छिपकर तुम प्रतिपल,
पल्लवों मे भर मृदुल हिलोर,

चूम कलियों के मुद्रित दल,
पत्र छिद्रों में गा निशि-भोर

विश्व के अन्तस्तल में चाह,
जगा देती हो तड़ित-प्रवाह।

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, के 18 जुलाई और 25 जुलाई, 1925 के अकों में दो किस्तों में प्रकाशित। परिमल में संकलित]

जागृति में सुप्ति थी

जड़े नयनों में स्वप्न
खोल बहुरंगी पंख विहग-से,
सो गया सुरा-स्वर
प्रिया के मौन अधरों में
क्षुब्ध एक कम्पन-सा निद्रित
सरोवर में।

लाज से सुहाग का—
मान से प्रगल्भ प्रिय-प्रणय निवेदन का
मन्द-हास-मृदु वह
सजा-जागरण-जग,
थककर वह चेतना भी लाजमयी
अरुण-किरणों में समा गयी।

जाग्रत प्रभा में क्या शान्ति थी !—
जागृति में सुप्ति थी—
जागरण क्लान्ति थी।

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 12 सितम्बर, 1925। परिमल में संकलित]

[76]

सुनते सुन की वंशी के सुर,
पहुँचे रत्नधर रमा के पुर;
लख सादर, उठी समाज श्वसुर - परिजन की;
बैठाला देकर मान - पान;
कुछ जन बतलाये कान - कान;
सुन बोली भाभी, यह पहचान रतन की।

[77]

जल गये व्यंग्य में सकल अंग,
चमकी चल - दृग ज्वाला - तरंग,
पर रही मौन धर अप्रसंग वह बाला;
पति की इस मति - गति से मरकर,
उर की उर में ज्यों, ताप - क्षर,
रह गयी सुरभि की म्लान - अधर वर - माला।

[78]

बोली मन में होकर अक्षम,
रक्खो, मर्यादा पुरुषोत्तम!
लाज का आज भूषण, अक्लम, नारी का;
खींचता छोर, यह कौन ओर
पैठा उनमें जो अधर चोर?
खुलता अब अंचल, नाथ, पोर साड़ी का!

[79]

कुछ काल रहा यों स्तब्ध भवन,
ज्यों आँधी के उठने का क्षण;
प्रिय श्रीवरजी को जिवाँ शयन करने को
ले चली साथ भावज हरती
निज प्रियालाप से वश करती,
वह मधु - शीकर निर्झर झरती झरने को।

[80]

जेंए फिर चल गृह के सब जन,
फिर लौटे निज - निज कक्ष शयन;
प्रिय - नयनों में बँध प्रिया - नयन चयनोत्कल

पलकों से स्फारित, स्फुरित - राग
सुनहला भरे पहला सुहाग,
रग - रग से रँग रे रहे जाग स्वप्नोत्पल।

[81]

कवि - रुचि में घिर छलकता रुचिर,
जो, न था भाव वह छवि का स्थिर—
बहती उलटी हो आज रुधिर - धारा वह,
लख - लख प्रियतम - मुख पूर्ण - इन्दु
लहराया जो उर मधुर सिन्धु,
विपरीत, ज्वार, जल - विन्दु - विन्दु द्वारा वह।

[82]

अस्तु रे, विवश, मारुत - प्रेरित,
पर्वत - समीप आकर ज्यों स्थित
घन - नीलालका दामिनी जित ललना वह;
उन्मुक्त - गुच्छ चक्रांक - पुच्छ,
लख नर्तित कवि-शिखि-मन समुच्च
वह जीवन की समझा न तुच्छ छलना वह!

[83]

बिखरी छूटी शफरी - अलकें,
निष्पात नयन - नीरज पलकें,
भावातुर पृथु उर की छलकें उपशमिता,
निःसम्बल केवल ध्यान - मग्न,
जागी योगिनी अरूप - लग्न,
वह खड़ी शीर्ण प्रिय - भाव - मग्न निरुपमिता।

[84]

कुछ समय अनन्तर, स्थित रहकर,
स्वर्गीयाभा वह स्वरित प्रखर
स्वर में झर-झर जीवन भरकर ज्यों बोली;
अचपल ध्वनि की चमकी चपला,
बल की महिमा बोली अबला,
जागी जल पर कमला, अमला मति डोली—

[76]

सुनते सुख की वंशी के सुर,
पहुँचे रत्नधर रमा के पुर;
लख सादर, उठी समाज श्वसुर - परिजन की;
बैठाला देकर मान - पान;
कुछ जन बतलाये कान - कान;
सुन बोली भाभी, यह पहचान रतन की।

[77]

जल गये व्यंग्य से सकल अंग,
चमकी चल - दृग ज्वाला - तरंग,
पर रही मौन धर अप्रसंग वह बाला;
पति की इस मति - गति से मरकर,
उर की उर में ज्यों, ताप - क्षार,
रह गयी सुरभि की म्लान - अधर वर - माला।

[78]

बोली मन में होकर अक्षम,
रक्खो, मर्यादा पुरुषोत्तम!
लाज का आज भूषण, अवनम, नारी का;
नीचता छोर, यह कौन और
पैठा उनमें जो अधर चोर?
सुनता अब अंचल, नाथ, चोर साड़ी का!

[79]

कुछ काल रहा यों स्तब्ध भवन,
ज्यों आँधी के उठने का क्षण;
प्रिय श्रीधरजी को जहाँ शयन करने को
ले चली नाग भावज हरती
निज प्रियाभार से वश करती,
वह मधु - सीकर निर्झर झरती झरने को।

[80]

आँए फिर मन गृह में सब जन,
फिर मोड़े भिन्न - भिन्न कर गमन;
द्विज - पत्नी ने बँध उषा - सदन चन्दोपम

पलकों से स्फारित, स्फुरित - राग
सुनहला भरे पहला सुहाग,
रग - रग में रँग रे रहे जाग स्वप्नोत्पल।

[81]

कवि - रुचि में घिर छलकता रुचिर,
जो, न था भाव वह छवि का स्थिर—
बहती उलटी ही आज रुधिर - धारा वह,
लख - लख प्रियतम - मुख पूर्ण - इन्दु
लहराया जो उर मधुर सिन्धु,
विपरीत, ज्वार, जल - विन्दु - विन्दु द्वारा वह।

[82]

अस्तु रे, विवश, मारुत - प्रेरित,
पर्वत - समीप आकर ज्यों स्थित
घन - नीलालका दामिनी जित ललना वह;
उन्मुक्त - गुच्छ चक्रांक - पुच्छ,
लख नर्तित कवि-शिखि-मन समुच्च
वह जीवन की समझा न तुच्छ छलना वह!

[83]

बिखरी छूटी शफरी - अलकें,
निष्पात नयन - नीरज पलकें,
भावातुर पृथु उर की छलकें उपशमिता,
नि.सम्बल केवल ध्यान - मग्न,
जागी योगिनी अरूप - लग्न,
वह खड़ी शीर्ण प्रिय - भाव - मग्न निरुपमिता।

[84]

कुछ समय अनन्तर, स्थित रहकर,
स्वर्गीयाभा वह स्वरित प्रखर
स्वर में झर-झर जीवन भरकर ज्यों बोली;
अचपल ध्वनि की चमकी चपला,
बल की महिमा बोली अबला,
जागी जल पर कमला, अमला मति डोली—

[76]

सुनते सुख की वंशी के सुर,
पहुँचे रत्नधर रमा के पुर;
लख सादर, उठी समाज श्वसुर-परिजन की;
बैठाला देकर मान-पान;
कुछ जन बतलाये कान-कान;
सुन बोली भाभी, यह पहचान रतन की।

[77]

जल गये व्यंग्य से सकल अंग,
चमकी चल-दृग ज्वाला-तरंग,
पर रही मौन धर अप्रसंग वह बाला;
पति की इस मति-गति से मरकर,
उर की उर में ज्यों, ताप-क्षर,
रह गयी सुरभि की म्लान-अधर वर-माला।

[78]

बोली मन मे होकर अक्षम,
रक्खो, मर्यादा पुरुषोत्तम!
लाज का आज भूषण, अक्लम, नारी का;
खींचता छोर, यह कौन और
पैठा उनमें जो अधर चौर?
खुलता अब अंचल, नाथ, पौर साड़ी का!

[79]

कुछ काल रहा यों स्तब्ध भवन,
ज्यों आँधी के उठने का क्षण;
प्रिय श्रीवरजी को जिवाँ शयन करने को
ले चली साथ भावज हरती
निज प्रियालाप से वश करती,
वह मधु-शीकर निर्झर झरती झरने को।

[80]

जेंए फिर चल गृह के सब जन,
फिर लौटे निज-निज कक्ष शयन;
प्रिय-नयनों मे बँध प्रिया-नयन चयनोत्कल

[85]

"धिक ! धाये तुम यों अनाहूत,
धो दिया श्रेष्ठ कुल-धर्म धूत,
राम के नहीं, काम के सूत कहलाये !
हो बिके जहाँ तुम बिना दाम,
वह नहीं और कुछ—हाड़, चाम !
कैसी शिक्षा, कैसे विराम पर आये !"

[86]

जागा, जागा संस्कार प्रबल,
रे गया काम तत्क्षण वह जल,
देखा, वामा, वह न थी, अनल-प्रतिमा वह;
इस ओर ज्ञान, उस ओर ज्ञान,
हो गया भस्म वह प्रथम भान,
छूटा जग का जो रहा ध्यान, जड़िमा वह।

[87]

देखा शारदा नील - वसना
है सम्मुख स्वयं सृष्टि-रशना,
जीवन - समीर - शुचि - निःश्वसना, वरदात्री,
वाणी वह स्वयं सुवादित स्वर
फूटी तर अमृताक्षर - निर्झर,
यह विश्व हंस, है चरण सुघर जिस पर श्री।

[88]

दृष्टि मे भारती से बँधकर
कवि उठता हुआ चला ऊपर;
केवल अम्बर—केवल अम्बर फिर देखा;
धूमायमान वह घूर्ण्य प्रसर
धूसर समुद्र शशि - ताराहर,
सूझता नहीं क्या ऊर्ध्व, अधर, क्षर रेखा।

[89]

चमकी तब तक तारा नवीन,
द्युति-नील-नील, जिसमें विलीन
हो गयी भारती, रूप-क्षीण महिमा अब;

आभा भी क्रमशः हुई मन्द,
निस्तब्ध व्योम—गति-रहित छन्द;
आनन्द रहा, मिट गये द्वन्द्व, बन्धन सब।

[90]

थे मुँदे नयन, ज्ञानोन्मीलित,
कलि में सौरभ ज्यों, चित में स्थित;
अपनी असीमता में अवसित प्राणाशय;
जिस कलिका में कवि रहा बन्द,
वह आज उसी में खुली मन्द,
भारती रूप में सुरभि - छन्द निष्प्रश्रय।

[91]

जब आया फिर देहात्मबोध,
बाहर चलने का हुआ शोध,
रह निर्विरोध, गति हुई रोध - प्रतिकूला,
खोलती मृदुल दल बन्द सकल
गुदगुदा विपुल धारा अविचल
वह चली सुरभि की ज्यों उत्कल, निःशूला—

[92]

बाजी बहती लहरें कलकल,
जागे भावाकुल शब्दोच्छल,
गूँजा जग का कानन - मण्डल, पर्वत - तल;
सूना उर ऋषियों का ऊना
सुनता स्वर, हो हर्षित, दूना,
आसुर भावों से जो भूना, था निश्चल।

[93]

"जागो जागो आया प्रभात,
बीती वह, बीती अन्ध रात,
झरता भर ज्योतिर्मय प्रपात पूर्वाचल;
बाँधो, बाँधो किरणें चेतन,
तेजस्वी, हे तमजिज्जीवन;
आती भारत की ज्योतिर्धन महिमाबल।

[85]

"धिक ! धाये तुम यों अनाहूत,
धो दिया श्रेष्ठ कुल-धर्म धूत,
राम के नहीं, काम के सूत कहलाये !
हो बिके जहाँ तुम बिना दाम,
वह नहीं और कुछ—हाड़, चाम !
कैसी शिक्षा, कैसे विराम पर आये !"

[86]

जागा, जागा संस्कार प्रबल,
रे गया काम तत्क्षण वह जल,
देखा, वामा, वह न थी, अनल-प्रतिमा वह;
इस ओर ज्ञान, उस ओर ज्ञान,
हो गया भस्म वह प्रथम भान,
छूटा जग का जो रहा ध्यान, जड़िमा वह।

[87]

देखा शारदा नील - वसना
है सम्मुख स्वयं सृष्टि-रशना,
जीवन - समीर - शुचि - निःश्वसना, वरदात्री,
वाणी वह स्वयं सुवादित स्वर
फूटी तर अमृताक्षर - निर्झर,
यह विश्व हंस, है चरण सुघर जिस पर श्री।

[88]

दृष्टि से भारती से बँधकर
कवि उठता हुआ चला ऊपर;
केवल अम्बर—केवल अम्बर फिर देखा;
धूमायमान वह घूर्ण्य प्रसर
धूसर समुद्र शशि - ताराहर,
सूझता नहीं क्या ऊर्ध्व, अधर, क्षर रेखा।

[89]

चमकी तब तक तारा नवीन,
द्युति-नील-नील, जिसमें विलीन
सो गयी भारती, रूप-क्षीण महिमा अब;

आभा भी क्रमशः हुई मन्द,
निस्तब्ध व्योम—गति-रहित छन्द;
आनन्द रहा, मिट गये द्वन्द्व, बन्धन सब।

[90]

थे मुँदे नयन, ज्ञानोन्मीलित,
कलि में सौरभ ज्यों, चित में स्थित;
अपनी असीमता में अवसित प्राणाशय;
जिस कलिका में कवि रहा बन्द,
वह आज उसी में खुली मन्द,
भारती रूप में सुरभि - छन्द निष्प्रश्रय।

[91]

जब आया फिर देहात्मबोध,
बाहर चलने का हुआ शोध,
रह निर्विरोध, गति हुई रोध - प्रतिकूला,
खोलती मृदुल दल बन्द सकल
गुदगुदा विपुल धारा अविचल
वह चली सुरभि की ज्यों उत्कल, निःशूला—

[92]

बाजी बहती लहरें कलकल,
जागे भावाकुल शब्दोच्छल,
गूँजा जग का कानन - मण्डल, पर्वत - तल;
सूना उर ऋषियों का ऊना
सुनता स्वर, हो हर्षित, दूना,
आसुर भावों से जो भूना, था निश्चल।

[93]

"जागो जागो आया प्रभात,
बीती वह, बीती अन्ध रात,
झरता भर ज्योतिर्मय प्रपात पूर्वाचल;
बाँधो, बाँधो किरणें चेतन,
तेजस्वी, हे तमजिज्जीवन;
आती भारत की ज्योतिर्धन महिमाबल।

[94]

"होगा फिर से दुर्धर्ष समर
जड़ से चेतन का निशिवासर,
कवि का प्रति छवि से जीवनहर, जीवन-भर;
भारती इधर, है उधर सकल
जड़ जीवन के संचित कौशल;
जय, इधर ईश, हैं उधर सबल माया - कर।

[95]

"हो रहे आज जो खिन्न-खिन्न
छुट-छुटकर दल से भिन्न-भिन्न
यह अकल-कला, गह सकल छिन्न, जोड़ेगी,
रवि-कर ज्यों विन्दु-विन्दु जीवन
संचित कर करता है वर्षण,
लहरा भव - पादप, मर्षण - मन मोड़ेगी।

[96]

"देश-काल के शर से बिंधकर
यह जागा कवि अशेष-छविधर
इनका स्वर भर भारती मुखर होयेंगी;
निश्चेतन, निज तन मिला विकल,
छलका शत-शत कल्मष के छल
बहती जो, वे रागिनी सकल सोयेंगी।

[97]

"तम के अमार्ज्य रे तार-तार
जो, उन पर पड़ी प्रकाश - धार;
जग-वीणा के स्वर के बहार रे, जागो;
इस कर अपने कारुणिक प्राण
कर लो समक्ष देदीप्यमान—
दे गीत विश्व को रुको, दान फिर माँगो।"

[98]

क्या हुआ कहाँ, कुछ नहीं सुना,
कवि ने निज मन भाव में गुना,
साधना जगी केवल अधुना प्राणों की,

देखा सामने, मूर्ति छल - छल
नयनों में छलक रही अचपल,
उपमिता न हुई समुच्च सकल तानो की।

[99]

जगमग जीवन का अन्त्य भाव—
"जो दिया मुझे तुमने प्रकाश,
अब रहा नहीं लेशावकाश रहने का
मेरा उससे गृह के भीतर;
देखूँगा नहीं कभी फिरकर,
लेता मैं, जो वर जीवन - भर बहने का।"

[100]

चल मन्दचरण आये बाहर,
उर में परिचित वह मूर्ति सुधर
जागी विश्वाश्रय महिमाधर, फिर देखा—
संकुचित, खोलती श्वेत पटल
बदली, कमला तिरती सुख-जल,
प्राची - दिगन्त - उर में पुष्कल रवि - रेखा।

[रचनाकाल : 1934 ई.। 'सुधा', मासिक, लखनऊ, के फरवरी, मार्च, अप्रैल, मई और जुलाई, 1935 के अंको में पाँच किस्तों में प्रकाशित]

दान

वासन्ती की गोद में तरुण,
सोहता स्वस्थ - मुख बालारुण;
चुम्बित, सस्मित, कुञ्चित, कोमल
तरुणियों सदृश किरणें चंचल;
किसलयों के अधर यौवन - मद
रक्ताभ; मञ्जु उड़ते षट्पद
खुलती कलियों से कलियों पर
नव आशा—नवल स्पन्द भर-भर;

व्यञ्जित सुख का जो मधु-गुञ्जन
वह पुञ्जीकृत वन - वन उपवन;
हेम - हार पहने अमलतास;
हँसता रक्ताम्बर वर पलास;
कुन्द के शेष पूजार्घ्यदान,
मल्लिका प्रथम - यौवन - शयान;
खुलते स्तबकों की लज्जाकुल
नतवदना मधुमाधवी अतुल;
निकला पहला अरविन्द आज,
देखता अनिन्द्य रहस्य-साज;
सौरभ-वसना समीर बहती,
कानों मे प्राणों की कहती;
गोमती क्षीण-कटि नटी नवल,
नृत्यपर मधुर-आवेश-चपल।
मैं प्रातः पर्यटनार्थ चला
लौटा, आ पुल पर खड़ा हुआ;
सोचा—"विश्व का नियम निश्चल,
जो जैसा, उसको वैसा फल
देती यह प्रकृति स्वयं सदया,
सोचने को न कुछ रहा नया;
सौन्दर्य, गीत, बहु वर्ण, गन्ध,
भाषा, भावों के छन्द-बन्ध,
और भी उच्चतर जो विलास,
प्राकृतिक दान वे, सप्रयास
या अनायास आते हैं सब,
सबमें है श्रेष्ठ, धन्य मानव।"
फिर देखा, उस पुल के ऊपर
बहुसंख्यक बैठे हैं वानर।
एक ओर पथ के, कृष्णकाय
कंकालशेष नर मृत्यु-प्राय
बैठा सशरीर दैन्य दुर्बल,
भिक्षा को उठी दृष्टि निश्चल;
अति क्षीण कण्ठ, है तीव्र श्वास,
जीता ज्यों जीवन से उदास।
ढोता जो, वह कौन-सा शाप?
भोगता कठिन, कौन-सा पाप?

यह प्रश्न सदा ही है पथ पर,
पर सदा मौन इसका उत्तर!
जो बड़ी दया का उदाहरण,
वह पैसा एक, उपायकरण!
मैंने झुक नीचे को देखा,
तो झलकी आशा की रेखा :—
विप्रवर स्नान कर चढ़ा सलिल
शिव पर दूर्वादल, तण्डुल, तिल,
लेकर झोली आये ऊपर,
देखकर चले तत्पर वानर।
द्विज राम-भक्त, भक्ति की आश
भजते शिव को बारहो मास;
कर रामायण का पारायण
जपते हैं श्रीमन्नारायण;
दुख पाते जब होते अनाथ,
कहते कपियों से जोड़ हाथ,
मेरे पड़ोस के वे सज्जन;
करते प्रतिदिन सरिता-मज्जन,
झोली से पुए निकाल लिये,
बढ़ते कपियों के हाथ दिये,
देखा भी नहीं उधर फिरकर
जिस ओर रहा वह भिक्षु इतर;
चिल्लाया किया दूर दानव,
बोला मैं—"धन्य, श्रेष्ठ मानव!"

[रचनाकाल : 15 अप्रैल, 1935। 'सुधा', मासिक, लखनऊ, जून, 1935, मे प्रकाशित। द्वितीय अनामिका में संकलित]

मित्र के प्रति

[1]

कहते हो, "नीरस यह
बन्द करो गान—
कहाँ छन्द, कहाँ भाव,
कहाँ यहाँ प्राण?

थी सर प्राचीन सरस,
सारस - हंसों से हँस;
वारिज - वारिद में बस
रहा विवश प्यार;
जल-तरंग ध्वनि; कलकल
बजा तट - मृदंग सदल;
पेंगें भर पवन कुशल
गाती मल्लार।"

[2]

सत्य, बन्धु, सत्य; वहाँ
नहीं अर्र - बर्र;
नहीं वहाँ भेक, वहाँ
नहीं टर्र - टर्र।
एक यही आठ पहर
बही पवन हहर-हहर,
तपा तपन ठहर-ठहर
सजल कण उड़े;
गये सूख भरे ताल,
हुए रूख हरे शाल,
हाय रे, मयूर-व्याल
पूँछ से जुड़े!

[3]

देखा कुछ इसी समय
दृश्य और - और
इसी ज्वाल में लहरे
हरे ठौर - ठौर ?
नूतन पल्लव - दल, कलि,
मँडलाते व्याकुल अलि,
तनु - तन पर जाते बलि
बार - बार हार;
वही जो सुवास मन्द
मधुर - भार - भरण - छन्द,
मिली नहीं तुम्हें, बन्द
रहे, बन्धु, द्वार ?

[4]

इसी समय झुकी आम्र—
शाखा फल - भार
मिली नहीं क्या जब यह
देखा ससार ?
उसके भीतर जो स्तव,
सुना नहीं कोई रव ?
हाय दैव, दव - ही - दव
बन्धु को मिला !
कुहरित भी पञ्चम स्वर,
रहे बन्द कर्ण - कुहर,
मन पर प्राचीन मुहर,
हृदय पर शिला।

[5]

सोचो तो क्या थी वह
भावना पवित्र,
बँधा जहाँ भेद भूल
मित्र से अमित्र।
तुम्हीं एक रहे मोड़
मुख, प्रिय, मित्र छोड़;
कहो, कहो, कहाँ होड
जहाँ जोड़, प्यार ?
इसी रूप मे रह स्थिर,
इसी भाव में घिर-घिर,
करोगे अपार तिमिर-
सागर को पार ?

[6]

वही बन्धु, वायु प्रबल
जो न बँध सकी;
देखते थके तुम, बहती
न वह थकी।
समझो वह प्रथम वर्ष,
रुका नहीं मुक्त हर्ष,
यौवन दुर्धर्ष कर्ष-
मर्ष मे लड़ा;

ऊपर मध्याह्न तपन
तपा किया, सन्-सन्-सन्
हिला-झुला तरु अगणन
वही वह हवा।

[7]

उड़ा दी गयी जो, वह भी
गयी उड़ा,
जली हुई आग, कहो,
कब गयी जुड़ा ?
जो थे प्राचीन पत्र
जीर्ण-शीर्ण, नहीं छत्र,
झड़े हुए यत्र-तत्र
पड़े हुए थे,
उन्हीं से अपार प्यार
बँधा हुआ था असार,
मिला दुःख निराधार
तुम्हें इसलिए।

[8]

वही तोड़ बन्धन
छन्दों का निरुपाय,
वही किया की फिर-फिर
हवा 'हाय-हाय'।
कमरे में, मध्य याम,
करते तब तुम विराम,
रचते अथवा ललाम
गतालोक लोक,
वह भ्रम मरुपथ पर की
यहाँ-वहाँ व्यस्त फिरी,
जला शोक-चिह्न, दिया
रँग विटप अशोक।

[9]

करती विश्राम, कहीं
नहीं मिला स्थान,
अन्ध-प्रगति-बन्ध किया
सिन्धु को प्रयाण;

उठा उच्च ऊर्मि-भंग—
सहसा शत - शत तरंग,
क्षुब्ध लुब्ध, नील - अंग—
अवगाहन - स्नान,
किया वहाँ भी दुर्दम
देख तरी विघ्न विषम,
उलट दिया अर्थागम
बनकर तूफान।

[10]

हुई आज शान्त, प्राप्त
कर प्रशान्त-वक्ष;
नहीं त्रास, अतः मित्र,
नहीं 'रक्ष, रक्ष'।
उड़े हुए थे जो कण,
उतरे पा शुभ वर्षण,
शुक्ति के हृदय से बन
मुक्ता झलके,
लखो, दिया है पहना
किसने यह हार बना
भारति-उर में अपना,
देख दृग थके!

[रचनाकाल : 7 जुलाई, 1935। 'माधुरी', मासिक, लखनऊ, सितम्बर, 1935, में प्रकाशित। द्वितीय अनामिका में संकलित]

सच है

यह सच है :—
तुमने जो दिया दान दान वह,
हिन्दी के हित का अभिमान वह,
जनता का जन-ताका ज्ञान वह,
सच्चा कल्याण वह अथच है—
यह सच है!

बार बार हार हार मैं गया,
खोजा जो हार क्षार मे नया,—
उड़ी धूल, तन सारा भर गया,
नही फूल, जीवन अविकच है—
यह सच है !

[रचनाकाल : 7 अक्तूबर, 1935। द्वितीय अनामिका में संकलित]

सरोज-स्मृति

ऊनविंश पर जो प्रथम चरण
तेरा वह जीवन-सिन्धु-तरण;
तनये, ली कर दृक्पात तरुण
जनक से जन्म की विदा अरुण !
गीते मेरी, तज रूप-नाम
वर लिया अमर शाश्वत विराम
पूरे कर शुचितर सपर्याय
जीवन के अष्टादशाध्याय,
चढ़ मृत्यु-तरणि पर तूर्ण-चरण
कह—"पितः, पूर्ण आलोक वरण
करती हूँ मैं, यह नही मरण,
'सरोज' का ज्योतिःशरण—तरण"—
अशब्द अधरों का, सुना, भाष,
मैं कवि हूँ, पाया है प्रकाश
मैंने कुछ अहरह रह निर्भर
ज्योतिस्तरणा के चरणों पर।
जीवित - कविते, शत - शर - जर्जर
छोड़कर पिता को पृथ्वी पर
तू गयी स्वर्ग, क्या यह विचार—
"जब पिता करेंगे मार्ग पार
यह, अक्षम अति, तब मैं सक्षम,
तारूँगी कर गह दुस्तर तम ?"

कहता तेरा प्रयाण सविनय,—
कोई न अन्य था भावोदय।
श्रावण - नभ का स्तब्धान्धकार
शुक्ला प्रथमा, कर गयी पार!

धन्ये, मैं पिता निरर्थक था,
कुछ भी तेरे हित न कर सका!
जाना तो अर्थागमोपाय
पर रहा सदा संकुचित-काय
लखकर अनर्थ आर्थिक पथ पर
हारता रहा मैं स्वार्थ-समर।
शुचिते, पहनाकर चीनांशुक
रख सका न तुझे अतः दधिमुख।
क्षीण का न छीना कभी अन्न,
मैं लख न सका वे दृग विपन्न;
अपने आँसुओं अतः बिम्बित
देखे हैं अपने ही मुख-चित।
सोचा है नत हो बार-बार—
"यह हिन्दी का स्नेहोपहार,
यह नहीं हार मेरी, भास्वर
वह रत्नहार—लोकोत्तर वर।"
अन्यथा, जहाँ है भाव शुद्ध
साहित्य - कला-कौशल - प्रबुद्ध,
हैं दिये हुए मेरे प्रमाण
कुछ वहाँ, प्राप्ति को समाधान,—
पार्श्व में अन्य रख कुशल हस्त
गद्य में पद्य में समाभ्यस्त।
देखें वे; हँसते हुए प्रवर
जो रहे देखते सदा समर,
एक साथ जब शत घात घूर्ण
आते थे मुझ पर तुले तूर्ण।
देखता रहा मैं खड़ा अपल
वह शर क्षेप, वह रण-कौशल।
व्यक्त हो चुका चीत्कारोत्कल
क्रुद्ध युद्ध का रुद्ध - कण्ठ फल।

और भी फलित होगी वह छवि,
जागे जीवन जीवन का रवि,
लेकर, कर कल तूलिका कला,
देखो क्या रँग भरती विमला,
वांछित उस किस लांछित छवि पर
फेरती स्नेह की कूची भर।
अस्तु मैं उपार्जन को अक्षम
कर नहीं सका पोषण उत्तम
कुछ दिन को, जब तू रही साथ,
अपने गौरव से झुका माथ।
पुत्री भी, पिता-गेह में स्थिर,
छोड़ने के प्रथम जीर्ण अजिर।
आँसुओं सजल दृष्टि की छलक,
पूरी न हुई जो रही कलक
प्राणों की प्राणों में दबकर
कहती लघु - लघु उसाँस में भर;
समझता हुआ मैं रहा देख
हटती भी पथ पर दृष्टि टेक।

तू सवा साल की जब कोमल;
पहचान रही ज्ञान में चपल,
माँ का मुख, हो चुम्बित क्षण-क्षण,
भरती जीवन में नव जीवन,
वह चरित पूर्ण कर गयी चली,
तू नानी की गोद जा पली।
सब किये वहीं कौतुक-विनोद
उस घर निशि-वासर भरे मोद;
खायी भाई की मार, विकल
रोयी, उत्पल - दल - दृग - छलछल;
चुमकारा सिर उसने निहार,
फिर गंगा - तट - सैकत विहार
करने को लेकर साथ चला,
तू गहकर चली हाथ चपला;
आँसुओं धुला मुख हासोच्छल,
लखती प्रसार वह ऊर्मि - धवल।

तब भी मैं इसी तरह समस्त,
कवि जीवन में व्यर्थ भी व्यस्त;
लिखता अबाध गति मुक्त छन्द,
पर सम्पादकगण निरानन्द
वापस कर देते पढ़ सत्वर
दे एक-पंक्ति-दो मे उत्तर।
लौटी रचना लेकर उदास
ताकता हुआ मैं दिशाकाश
बैठा प्रान्तर मे दीर्घ प्रहर
व्यतीत करता था गुन-गुन कर
सम्पादक के गुण; यथाभ्यास
पास की नोंचता हुआ घास
अज्ञात फेंकता इधर - उधर
भाव की चढ़ी पूजा उन पर।

याद है दिवस की प्रथम धूप
थी पड़ी हुई तुझ पर सुरूप,
खेलती हुई तू परी चपल,
मैं दूरस्थित प्रवास से चल
दो वर्ष बाद, होकर उत्सुक
देखने के लिए अपने मुख
था गया। हुआ, बैठा बाहर
आँगन मे फाटक के भीतर
मोढ़े पर, ले कुण्डली हाथ
अपने जीवन की दीर्घ गाथ।
पढ़, लिखे हुए शुभ दो विवाह
हँसता था, मन मे बढ़ी चाह
खण्डित करने को भाग्य - अंक,
देखा भविष्य के प्रति अशंक।
इसमे पहले आत्मीय स्वजन
सस्नेह कह चुके थे, जीवन
सुखमय होगा, विवाह कर लो
जो पढ़ी - लिखी हो—सुन्दर हो।
आये ऐसे अनेक परिणय,
पर विदा किया मैंने सविनय

सबको, जो अड़े प्रार्थना भर
नयनों में, पाने को उत्तर
अनुकूल, उन्हें जब कहा निडर—
"मैं हूँ मंगली", मुड़े सुनकर।
इस बार एक आया विवाह
जो किसी तरह भी हतोत्साह
होने को न था, पड़ी अड़चन,
आया मन में भर आकर्षण
उन नयनों का; सासु ने कहा—
"वे बड़े भले जन हैं, भय्या,
एन्ट्रेन्स पास है लड़की वह,
बोले मुझ से, छब्बिस ही तो
वर की है उम्र, ठीक ही है,
लड़की भी अट्ठारह की है।"
फिर हाथ जोड़ने लगे, कहा—
"वे नहीं कर रहे ब्याह, अहा!
हैं सुधरे हुए बड़े सज्जन!
अच्छे कवि, अच्छे विद्वज्जन!
हैं बड़े नाम उनके! शिक्षित
लड़की भी रूपवती, समुचित
आपको यही होगा कि कहें
'हर तरह उन्हें, वर सुखी रहें।'
आयेंगे कल।" दृष्टि थी शिथिल,
आयी पुतली तू खिल-खिल-खिल
हँसती, मैं हुआ पुनः चेतन,
सोचता हुआ विवाह - बन्धन।
कुण्डली दिखा बोला—"ए—लो"
आयी तू, दिया, कहा "खेलो!"
कर स्नान-शेष, उन्मुक्त - केश
सासुजी रहस्य - स्मित सुवेश
आयी करने को बातचीत
जो कल होनेवाली, अजीत;
संकेत किया मैंने अखिन्न
जिस ओर कुण्डली छिन्न - भिन्न,
देखने लगीं वे विस्मय भर
तू बैठी सञ्चित टुकड़ों पर!

धीरे - धीरे फिर बढ़ा चरण,
बाल्य की केलियों का प्राङ्गण
कर पार, कुञ्ज - तारुण्य सुघर
आयी, लावण्य - भार थर - थर
काँपा कोमलता पर सस्वर
ज्यों मालकौश नव वीणा पर;
नैश स्वप्न ज्यों तू मन्द-मन्द
फूटी ऊषा—जागरण - छन्द;
काँपी भर निज आलोक - भार,
काँपा वन, काँपा दिक प्रसार।
परिचय-परिचय पर खिला सकल—
नभ, पृथ्वी, द्रुम, कलि, किसलय-दल।
क्या दृष्टि! अतल की सिक्त-धार
ज्यों भोगावती उठी अपार,
उमड़ता ऊर्ध्व को कल सलील
जल टलमल करता नील - नील,
पर बँधा देह के दिव्य बाँध,
छलकता दृगों से साध - साध।
फूटा कैसा प्रिय कण्ठ - स्वर
माँ की मधुरिमा व्यञ्जना भर।
हर पिता - कण्ठ की दृप्त - धार
उत्कलित रागिनी की बहार!
बन जन्मसिद्ध गायिका, तन्वि,
मेरे स्वर की रागिनी वह्नि
साकार हुई दृष्टि में सुघर,
समझा मैं क्या संस्कार प्रखर।
शिक्षा के बिना बना वह स्वर
है, सुना न अब तक पृथ्वी पर!
जाना बस, पिक - बालिका प्रथम
पल अन्य नीड़ में जब सक्षम
होती उड़ने को, अपना स्वर
भर करती ध्वनित मौन प्रान्तर।
तू खिंची दृष्टि में मेरी छवि,
जागा उर में तेरा प्रिय कवि,
उन्मनन - गुञ्ज सज हिला कुञ्ज
तरु-पल्लव कलि-दल पुञ्ज-पुञ्ज,

वह चली एक अज्ञात वात
चूमती केश—मृदु नवल गात,
देखती सकल निष्पलक-नयन
तू, समझा मैं तेरा जीवन।

सासु ने कहा लख एक दिवस—
"भैया अब नहीं हमारा बस,
पालना-पोसना रहा काम,
देना 'सरोज' को धन्य-धाम,
शुचि वर के कर, कुलीन लखकर,
है काम तुम्हारा धर्मोत्तर;
अब कुछ दिन इसे साथ लेकर
अपने घर रहो, ढूंढकर वर
जो योग्य तुम्हारे, करो ब्याह
होंगे सहाय हम सहोत्साह।
सुनकर, गुनकर चुपचाप रहा,
कुछ भी न कहा,—न अहो, न अहा,—
ले चला साथ मैं तुझे, कनक
ज्यों भिक्षुक लेकर; स्वर्ण-झनक
अपने जीवन की, प्रभा विमल
ले आया निज गृह-छाया-तल।
सोचा मन मे हत वार वार—
'ये कान्यकुब्ज-कुल-कुलाङ्गार
खाकर पत्तल मे करें छेद,
इनके कर कन्या, अर्थ खेद;
इस विषय-बेलि मे विष ही फल,
यह दग्ध मरुस्थल,—नहीं सुजल।"
फिर सोचा—"मेरे पूर्वजगण
गुजरे जिस राह, वही शोभन
होगा मुझको, यह लोक-रीति
कर दूं पूरी, गो नहीं भीति
कुछ मुझे तोड़ते गत विचार;
पर पूर्ण रूप प्राचीन भार
ढोते मैं हूं अक्षम; निश्चय
आयेगी मुझमे नहीं विनय

उतनी जो रेखा करे पार
सौहार्द - बन्ध की, निराधार।
वे जो जमुना के - से कछार
पद, फटे बिवाई के, उधार
खाये के मुख ज्यों, पिये तेल
चमरौधे जूते से सकेल
निकले, जी लेते, घोर - गन्ध,
उन चरणों को मैं यथा अन्ध,
कल घ्राण-प्राण से रहित व्यक्ति
हो पूजूँ, ऐसी नही शक्ति।
ऐसे शिव से गिरिजा - विवाह
करने की मुझको नही चाह।"

फिर आयी याद—मुझे सज्जन
है मिला प्रथम ही विद्वज्जन
नवयुवक एक, सत्साहित्यिक,
कुल कान्यकुब्ज, यह नैमित्तिक
होगा कोई इङ्गित अदृश्य,
मेरे हित है हित यही स्पृश्य
अभिनन्दनीय। बँध गया भाव,
खुल गया हृदय का स्नेह - स्राव;
खत लिखा, बुला भेजा तत्क्षण,
युवक भी मिला प्रफुल्ल, चेतन।
बोला मैं—"मैं हूँ रिक्त हस्त
इस समय, विवेचन में समस्त—
जो कुछ है मेरा अपना धन
पूर्वज से मिला, करूँ अर्पण
यदि महाजनों को, तो विवाह
कर सकता हूँ; पर नही चाह
मेरी ऐसी, दहेज देकर
मैं मूर्ख बनूँ, यह नही सुघर,
बारात बुलाकर मिथ्या व्यय
मैं करूँ, नही ऐसा सुसमय।
तुम करो ब्याह, तोड़ता नियम
मैं सामाजिक योग के प्रथम,

लग्न के, पढ़ूँगा स्वयं मन्त्र
यदि पण्डितजी होंगे स्वतन्त्र।
जो कुछ मेरे, वह कन्या का,
निश्चय समझो, कुल धन्या का।"
आये पण्डितजी, प्रजावर्ग
आमन्त्रित साहित्यिक, ससर्ग
देखा विवाह आमूल नवल;
तुझ पर शुभ पड़ा कलश का जल।
देखती मुझे तू, हँसी मन्द,
होंठो में बिजली फँसी, स्पन्द
उर में भर झूली छबि सुन्दर,
प्रिय की अशब्द शृंगार - मुखर
तू खुली एक उच्छ्वास - संग,
विश्वास - स्तब्ध बँध अङ्ग - अङ्ग,
नत नयनों से आलोक उतर
काँपा अधरों पर थर - थर - थर।
देखा मैंने, वह मूर्ति - धीति
मेरे वसन्त की प्रथम गीति—
शृंगार, रहा जो निराकार
रस कविता में उच्छ्वसित - धार
गाया स्वर्गीया - प्रिया - सङ्ग
भरता प्राणों में राग - रङ्ग
रति - रूप प्राप्त कर रहा वही,
आकाश बदलकर बना मही।

हो गया ब्याह, आत्मीय स्वजन
कोई थे नहीं, न आमन्त्रण
था भेजा गया, विवाह - राग
भर रहा न घर निशि-दिवस-जाग;
प्रिय मौन एक सङ्गीत भरा
नव जीवन के स्वर पर उतरा।
माँ की कुल शिक्षा मैंने दी,
पुष्प - सेज तेरी स्वयं रची,
सोचा मन में—"वह शकुन्तला,
पर पाठ अन्य यह, अन्य कला।"

कुछ दिन रह गृह, तू फिर समोद,
बैठी नानी की स्नेह - गोद।
मामा - मामी का रहा प्यार,
भर जलद धरा को ज्यों अपार;
वे ही सुख - दुख में रहे न्यस्त,
तेरे हित सदा समस्त, व्यस्त;
वह लता वहीं की, जहाँ कली
तू खिली, स्नेह से हिली, पली;
अन्त भी उसी गोद में शरण
ली, मूँदे दृग वर महामरण!

मुझ भाग्यहीन की तू सम्बल
युग वर्ष बाद जब हुई विकल,
दुख ही जीवन की कथा रही,
क्या कहूँ आज, जो नहीं कही!
हो इसी कर्म पर वज्रपात
यदि धर्म, रहे नत सदा माथ
इस पथ पर, मेरे कार्य सकल
हों भ्रष्ट शीत के-से शतदल!
कन्ये, गत कर्मों का अर्पण
कर, करता मैं तेरा तर्पण!

[रचनाकाल : 9 अक्तूबर, 1935। 'सुधा', मासिक, लखनऊ, जनवरी, 1936, में प्रकाशित। द्वितीय अनामिका में संकलित]

प्रेयसी

घेर अंग-अंग को
लहरी तरंग वह प्रथम तारुण्य की,
ज्योतिर्मयिलता-सी हुई मैं तत्काल
घेर निज तरु-तन।
खिले नव पुष्प जग प्रथम सुगन्ध के,
प्रथम वसन्त में गुच्छ-गुच्छ।

दृगों को रँग गयी प्रथम प्रणय-रश्मि—
चूर्ण हो विच्छुरित
विश्व-ऐश्वर्य को स्फुरित करती रही
बहु रंग-भाव भर
शिशिर ज्यों पत्र पर कनक-प्रभात के,
किरण-सम्पात से ।
दर्शन-समुत्सुक युवाकुल पतंग ज्यों
विचरते मञ्जु-मुख
गुञ्ज-मृदु अलि-पुञ्ज
मुखर-उर मौन वा स्तुति-गीत मे हरे।
प्रस्रवण झरते आनन्द के चतुर्दिक—
भरते अन्तर पुलकराशि से बार-बार
चक्राकार कलरव-तरंगों के मध्य मे
उठी हुई उर्वशी-सी,
कम्पित प्रतनु-भार,
विस्तृत दिगन्त के पार प्रिय बद्ध-दृष्टि
निश्चल अरूप में ।
हुआ रूप-दर्शन
जब कृतविद्य तुम मिले
विद्या को दृगो से,
मिला लावण्य ज्यों मूर्ति को मोहकर,—
शेफालिका को शुभ्र हीरक-सुमन-हार,—
शृंगार
शुचिदृष्टि मूक रस-सृष्टि को ।
याद है, उषःकाल,—
प्रथम-किरण-कम्प प्राची के दृगों में,
प्रथम पुलक फुल्ल चुम्बित वसन्त की
मञ्जरित लता पर,
प्रथम विहग-बालिकाओं का मुखर स्वर
प्रणय-मिलन-गान,
प्रथम विकच कलि वृन्त पर नग्न-तनु
प्राथमिक पवन के स्पर्श से काँपती;
करती विहार
उपवन में मैं, छिन्न-हार
मुक्ता-सी निःसंग,
बहु रूप-रंग वे देखती, सोचती;

मिले तुम एकाएक;
देख मैं रुक गयी :—
चल पद हुए अचल,
आप ही अपल दृष्टि,
फैला समष्टि मे खिंच स्तब्ध मन हुआ।
दिये नहीं प्राण जो इच्छा से दूसरे को,
इच्छा से प्राण वे दूसरे के हो गये !
दूर थी,
खिंचकर समीप ज्यों मैं हुई
अपनी ही दृष्टि मे;
जो था समीप विश्व,
दूर दूरतर दिखा।
मिली ज्योति-छवि से तुम्हारी
ज्योति-छवि मेरी,
नीलिमा ज्यों शून्य से;
बँधकर मैं रह गयी;
डूब गये प्राणो में
पल्लव-लता-भार
वन-पुष्प-तरु-हार
कूजन-मधुर चल विश्व के दृश्य सब,—
सुन्दर गगन के भी रूप-दर्शन सकल—
सूर्य-हीरकधरा प्रकृति नीलाम्बरा,
सन्देशवाहक बलाहक विदेश के।
प्रणय के प्रलय मे सीमा सब खो गयी !
बँधी हुई तुमसे ही
देखने लगी मैं फिर-
फिर प्रथम पृथ्वी को;
भाव बदला हुआ—
पहले की घन-घटा वर्षण बनी हुई;
कैसा निरञ्जन यह अञ्जन आ लग गया !
देखती हुई सहज
हो गयी मैं जडीभूत,
जगा देहज्ञान,
फिर याद गेह की हुई;
लज्जित
उठे चरण दूसरी ओर को

विमुख अपने से हुई!
चली चुपचाप,
मूक संताप हृदय में,
पृथुल प्रणय-भार।
देखते निमेषहीन नयनों से तुम मुझे
रखने को चिरकाल बाँधकर दृष्टि से
अपना ही नारी रूप, अपनाने के लिए,
मर्त्य में स्वर्गसुख पाने के अर्थ, प्रिय,
पीने को अमृत अंश से झरता हुआ।
कैसी निरलस दृष्टि!
सजल शिशिर-धौत पुष्प ज्यों प्रात में
देखता है एकटक किरण-कुमारी को।—
पृथ्वी का प्यार, सर्वस्व उपहार देता।
नभ की निरुपमा को,
पलकों पर रख नयन
करता प्रणयन, शब्द—
भावों में विशृंखल बहता हुआ भी स्थिर।
देकर न दिया ध्यान मैंने उस गीत पर
कुल-मान-ग्रन्थि में बँधकर चली गयी;
जीते संस्कार वे बद्ध संसार के—
उनकी ही मैं हुई!
समझ नहीं सकी, हाय,
बँधा सत्य अञ्चल से
खुलकर कहाँ गिरा।
बीता कुछ काल,
देह-ज्वाला बढ़ने लगी,
नन्दन-निकुञ्ज की रति को ज्यों मिला मरु,
उतरकर पर्वत से निर्झरी भूमि पर
पंकिल हुई सलिल-देह कलुषित हुई।
करुणा की अनिमेष दृष्टि मेरी खुली,
किन्तु अरुणार्क, प्रिय, झुलसाते ही रहे—
भर नहीं सके प्राण रूप-बिन्दु-दान से।
तब तुम लघुपद-विहार
अनिल ज्यों बार-बार
वक्ष के सजे तार झंकृत करने लगे
साँसों से, भावों से, चिन्ता से कर प्रवेश।

उद्धार के लिए,
शत बार शोध की उर मे प्रतिज्ञा की।
पूर्ण मैं कर चुकी।
गर्वित, गरीयसी अपने में आज मैं।
रूप के द्वार पर
मोह की माधुरी
कितने ही बार पी मूर्च्छित हुए हो, प्रिय,
जागती मैं रही,
गह बाँह, बाँह मे भरकर सँभाला तुम्हें।

[रचनाकाल : 16 अक्तूबर, 1935। 'माधुरी', मासिक, लखनऊ, नवम्बर, 1935, मे प्रकाशित। द्वितीय अनामिका मे संकलित]

राम की शक्ति-पूजा

रवि हुआ अस्त : ज्योति के पत्र पर लिखा अमर
रह गया राम-रावण का अपराजेय समर
आज का, तीक्ष्ण-शर-विधृत-क्षिप्र-कर वेग-प्रखर,
शतशेलसम्वरणशील, नीलनभ-गर्ज्जित-स्वर,
प्रतिपल-परिवर्तित-व्यूह —भेद-कौशल-समूह,—
राक्षस-विरुद्ध प्रत्यूह,—क्रुद्ध-कपि-विषम-हूह,
विच्छुरितवह्नि-राजीवनयन-हत-लक्ष्य-बाण,
लोहितलोचन-रावण-मदमोचन-महीयान,
राघव-लाघव—रावण-वारण—गत-युग्म-प्रहर,
उद्धत-लंकापति-मर्द्दित-कपि-दल-बल-विस्तर,
अनिमेष-राम—विश्वजिद्दिव्य-शर-भङ्ग-भाव,—
विद्धाङ्ग-बद्ध-कोदण्ड-मुष्टि—खर-रुधिर-स्राव,
रावण-प्रहार-दुर्वार-विकल-वानर दल-बल,—
मूर्च्छित-सुग्रीवाङ्गद-भीषण-गवाक्ष-गय-नल,
वारित-सौमित्र-भल्लपति—अगणित-मल्ल-रोध,
गर्ज्जित-प्रलयाब्धि-क्षुब्ध-हनुमत्-केवल-प्रबोध,
उद्गीरित-वह्नि-भीम-पर्वत-कपि-चतुः प्रहर,
जानकी-भीरु-उर—आशाभर—रावण-सम्वर।

लौटे युग - दल । राक्षस-पदतल पृथ्वी टलमल,
बिध महोल्लास से बार - बार आकाश विकल।
वानर-वाहिनी खिन्न, लख निज-पति-चरण-चिह्न
चल रही शिविर की ओर स्थविर-दल ज्यों विभिन्न;
प्रशमित है वातावरण; नमित-मुख सान्ध्य कमल
लक्ष्मण चिन्ता - पल, पीछे वानर - वीर सकल;
रघुनायक आगे अवनी पर नवनीत-चरण,
श्लथ धनु-गुण है कटिबन्ध स्रस्त—तूणीर-धरण,
दृढ़ जटा-मुकुट हो विपर्यस्त प्रतिलट से खुल
फैला पृष्ठ पर, बाहुओं पर, वक्ष पर, विपुल
उतरा ज्यों दुर्गम पर्वत पर नैशान्धकार,
चमकतीं दूर ताराएँ ज्यों हों कहीं पार।

आये सब शिविर, सानु पर पर्वत के, मन्थर,
सुग्रीव, विभीषण, जाम्बवान आदिक वानर,
सेनापति दल-विशेष के, अङ्गद, हनूमान
नल, नील, गवाक्ष, प्रात के रण का समाधान
करने के लिए, फेर वानर-दल आश्रय-स्थल।
बैठे रघु-कुल-मणि श्वेत शिला पर; निर्मल जल
ले आये कर-पद-क्षालनार्थ पटु हनूमान;
अन्य वीर सर के गये तीर सन्ध्या-विधान—
वन्दना ईश की करने को, लौटे सत्वर,
सब घेर राम को बैठे आज्ञा को तत्पर।
पीछे लक्ष्मण, सामने विभीषण, भल्लधीर,
सुग्रीव, प्रान्त पर पाद-पद्म के महावीर;
यूथपति अन्य जो, यथास्थान, हो निर्निमेष
देखते राम का जित-सरोज-मुख-श्याम-देश।

है अमानिशा; उगलता गगन घन अन्धकार;
खो रहा दिशा का ज्ञान; स्तब्ध है पवन-चार;
अप्रतिहत गरज रहा पीछे अम्बुधि विशाल;
भूधर ज्यों ध्यान-मग्न; केवल जलती मशाल।
स्थिर राघवेन्द्र को हिला रहा फिर-फिर संशय,
रह-रह उठता जग जीवन में रावण-जय-भय;
जो नहीं हुआ आज तक हृदय रिपु-दम्य—श्रान्त,—
एक भी, अयुत-लक्ष में रहा जो दुराक्रान्त,

कल लड़ने को हो रहा विकल वह बार-बार,
असमर्थ मानता मन उद्यत हो हार - हार।
ऐसे क्षण अन्धकार घन में जैसे विद्युत
जागी पृथ्वी - तनया - कुमारिका - छवि, अच्युत
देखते हुए निष्पलक, याद आया उपवन
विदेह का,—प्रथम स्नेह का लतान्तराल मिलन
नयनों का—नयनों से गोपन—प्रिय सम्भाषण,
पलकों का नव पलकों पर प्रथमोत्थान - पतन,
काँपते हुए किसलय,—झरते पराग—समुदय,
गाते खग-नव-जीवन-परिचय,—तरु मलय-वलय,
ज्योतिःप्रपात स्वर्गीय,—ज्ञात छवि प्रथम स्वीय,
जानकी - नयन - कमनीय प्रथम कम्पन तुरीय।
सिहरा तन, क्षण-भर भूला मन, लहरा समस्त,
हर धनुर्भङ्ग को पुनर्वार ज्यों उठा हस्त,
फूटी स्मिति सीता-ध्यान-लीन राम के अधर,
फिर विश्व - विजय - भावना हृदय में आयी भर,
वे आये याद दिव्य शर अगणित मन्त्रपूत,—
फड़का पर नभ को उड़े सकल ज्यों देवदूत,
देखते राम, जल रहे शलभ ज्यों रजनीचर,
ताड़का, सुबाहु, विराध, शिरस्त्रय, दूषण, खर;
फिर देखी भीमा मूर्ति आज रण देखी जो
आच्छादित किये हुए सम्मुख समग्र नभ को,
ज्योतिर्मय अस्त्र सकल बुझ-बुझकर हुए क्षीण,
पा महानिलय उस तन में क्षण में हुए लीन;
लख शंकाकुल हो गये अतुल-बल शेष-शयन,—
खिंचे गये दृगों में सीता के राममय नयन;
फिर सुना—हँस रहा अट्टहास रावण खलखल,
भावित नयनों से सजल गिरे दो मुक्ता-दल।

बैठे मारुति देखते राम - चरणारविन्द
युग 'अस्ति-नास्ति' के एक-रूप, गुण-गण-अनिन्द्य;
साधना-मध्य भी साम्य—वाम-कर दक्षिण-पद,
दक्षिण-कर-तल पर वाम चरण, कपिवर गद्‌गद
पा सत्य, सच्चिदानन्दरूप, विश्राम - धाम,
जपते सभक्ति अजपा विभक्त हो राम - नाम।

युग चरणों पर आ पड़े अस्तु वे अश्रु युगल,
देखा कपि ने, चमके नभ मे ज्यों तारादल;
ये नही चरण राम के, बने श्यामा के शुभ,—
सोहते मध्य मे हीरक युग या दो कौस्तुभ;
टूटा वह तार ध्यान का, स्थिर मन हुआ विकल,
सन्दिग्ध भाव की उठी दृष्टि, देखा अविकल
बैठे वे वही कमल-लोचन, पर सजल नयन,
व्याकुल-व्याकुल कुछ चिर-प्रफुल्ल मुख, निश्चेतन।
"ये अश्रु राम के" आते ही मन मे विचार,
उद्वेल हो उठा शक्ति - खेल - सागर अपार,
हो श्वसित पवन - उनचास, पिता - पक्ष से तुमुल,
एकत्र वक्ष पर बहा वाष्प को उड़ा अतुल,
शत घूर्णावर्त, तरङ्ग - भङ्ग उठते पहाड़,
जल राशि - राशि जल पर चढ़ता खाता पछाड़
तोडता बन्ध—प्रतिसन्ध धरा, हो स्फीत-वक्ष
दिग्विजय-अर्थ प्रतिपल समर्थ बढ़ता समक्ष।
शत-वायु-वेग-बल, डुबा अतल मे देश - भाव,
जलराशि विपुल मथ मिला अनिल में महाराव
वज्राङ्ग तेजघन बना पवन को, महाकाश
पहुँचा, एकादशरुद्र क्षुब्ध कर अट्टहास।
रावण - महिमा श्यामा विभावरी - अन्धकार,
यह रुद्र राम - पूजन - प्रताप तेज.प्रसार;
उस ओर शक्ति शिव की जो दशस्कन्ध-पूजित,
इस ओर रुद्र - वन्दन जो रघुनन्दन - कूजित;
करने को ग्रस्त समस्त व्योम कपि बढ़ा अटल,
लख महानाश शिव अचल हुए क्षण-भर चञ्चल,
श्यामा के पदतल भारधरण हर मन्द्रस्वर
बोले—"सम्बरो देवि, निज तेज, नही वानर
यह,—नही हुआ श्रृंगार - युग्म - गत, महावीर,
अर्चना राम की मूर्तिमान अक्षय - शरीर,
चिर - ब्रह्मचर्य - रत, ये एकादश रुद्र धन्य,
मर्यादा - पुरुषोत्तम के सर्वोत्तम, अनन्य
लीलासहचर, दिव्यभावधर, इन पर प्रहार
करने पर होगी देवि, तुम्हारी विषम हार;
विद्या का ले आश्रय इस मन को दो प्रबोध,
झुक जायेगा कपि, निश्चय होगा दूर रोध।"

कह हुए मौन शिव; पवन-तनय में भर विस्मय
सहसा नभ में अञ्जना-रूप का हुआ उदय;
बोली माता—"तुमने रवि को जब लिया निगल
तब नहीं बोध था तुम्हें, रहे बालक केवल;
यह वही भाव कर रहा तुम्हें व्याकुल रह-रह,
यह लज्जा की है बात कि माँ रहती सह-सह;
यह महाकाश, है जहाँ वास शिव का निर्मल—
पूजते जिन्हें श्रीराम, उसे ग्रसने को चल
क्या नहीं कर रहे तुम अनर्थ ?—सोचो मन में;
क्या दी आज्ञा ऐसी कुछ श्रीरघुनन्दन ने ?
तुम सेवक हो, छोड़कर धर्म कर रहे कार्य—
क्या असम्भाव्य हो यह राघव के लिए धार्य ?"
कपि हुए नम्र, क्षण में माताछवि हुई लीन,
उतरे धीरे-धीरे, गह प्रभु-पद हुए दीन।

राम का विषण्णानन देखते हुए कुछ क्षण,
"हे सखा", विभीषण बोले, "आज प्रसन्न वदन
वह नहीं, देखकर जिसे समग्र वीर वानर—
भल्लूक विगत-श्रम हो पाते जीवन-निर्जर;
रघुवीर, तीर सब वही तूण में है रक्षित,
है वही वक्ष, रण-कुशल हस्त, बल वही अमित,
है वही सुमित्रानन्दन मेघनाद-जित-रण,
है वही भल्लपति, वानरेन्द्र सुग्रीव प्रमन,
तारा-कुमार भी वही महाबल श्वेत धीर,
अप्रतिभट वही एक—अर्बुद-सम, महावीर,
है वही दक्ष सेना-नायक, है वही समर,
फिर कैसे असमय हुआ उदय यह भाव-प्रहर ?
रघुकुल गौरव, लघु हुए जा रहे तुम इस क्षण,
तुम फेर रहे हो पीठ हो रहा जब जय रण !
कितना श्रम हुआ व्यर्थ ! आया जब मिलन-समय,
तुम खींच रहे हो हस्त जानकी से निर्दय !
रावण, रावण, लम्पट, खल, कल्मष-गताचार,
जिसने हित कहते किया मुझे पाद-प्रहार,
बैठा उपवन में देगा दुख सीता को फिर,—
कहता रण की जय-कथा पारिषद-दल से घिर;—

सुनता वसन्त में उपवन मे कल-कूजित पिक
मैं बना किन्तु लकापति, धिक्, राघव, धिक्-धिक् !"

सब सभा रही निस्तब्ध : राम के स्तिमित नयन
छोड़ते हुए, शीतल प्रकाश देखते विमन,
जैसे ओजस्वी शब्दो का जो था प्रभाव
उससे न इन्हे कुछ चाव, न हो कोई दुराव;
ज्यो हो वे शब्द मात्र,—मैत्री की समनुरक्ति,
पर जहाँ गहन भाव के ग्रहण की नही शक्ति।
कुज क्षण तक रहकर मौन सहज निज कोमल स्वर
बोले रघुमणि—"मित्रवर, विजय होगी न समर;
यह नही रहा नर-वानर का राक्षस से रण,
उतरी पा महाशक्ति रावण से आमन्त्रण;
अन्याय जिधर, हैं उधर शक्ति !" कहते छल-छल
हो गये नयन, कुछ बूँद पुनः ढलके दृगजल,
रुक गया कण्ठ, चमका लक्ष्मण-तेजः प्रचण्ड,
धँस गया धरा मे कपि गह युग पद मसक दण्ड,
स्थिर जाम्बवान,—समझते हुए ज्यो सकल भाव,
व्याकुल सुग्रीव,—हुआ उर मे ज्यों विषम घाव,
निश्चित-सा करते हुए विभीषण कार्य-क्रम,
मौन मे रहा यो स्पन्दित वातावरण विषम।

निज सहज रूप में संयत हो जानकी-प्राण
बोले—"आया न समझ मे यह दैवी विधान;
रावण, अधर्मरत भी, अपना, मैं हुआ अपर—
यह रहा शक्ति का खेल समर, शङ्कर, शङ्कर !
करता मैं योजित बार-बार शर-निकर निशित
हो सकती जिनसे यह संसृति सम्पूर्ण विजित,
जो तेजःपुञ्ज, सृष्टि की रक्षा का विचार
है जिनमे निहित पतनघातक संस्कृति अपार—
शत-शुद्धि-बोध—सूक्ष्मातिसूक्ष्म मन का विवेक,
जिनमे है क्षात्रधर्म का धृत पूर्णाभिषेक,
जो हुए प्रजापतियो से सयम मे रक्षित,
वे शर हो गये आज रण मे श्रीहत, खण्डित !
देखा, हैं महाशक्ति रावण को लिये अङ्क,
लाञ्छन को ले जैसे शशाङ्क नभ में अशङ्क;

हत मन्त्रपूत शर संवृत करती बार-बार,
निष्फल होते लक्ष्य पर क्षिप्र वार पर वार !
विचलित लख कपिदल, क्रुद्ध युद्ध को मैं ज्यों-ज्यों,
झक-झक झलकती वह्नि वामा के दृग त्यों-त्यों,
पश्चात्, देखने लगी मुझे, बँध गये हस्त,
फिर खिंचा न धनु, मुक्त ज्यों बँधा मैं हुआ त्रस्त !"
कह हुए भानुकुलभूषण वहाँ मौन क्षण-भर,
बोले विश्वस्त कण्ठ से जाम्बवान—"रघुवर,
विचलित होने का नहीं देखता मैं कारण,
हे पुरुष-सिंह, तुम भी यह शक्ति करो धारण,
आराधन का दृढ़ आराधन से दो उत्तर,
तुम वरो विजय संयत प्राणों से प्राणों पर;
रावण अशुद्ध होकर भी यदि कर सका त्रस्त
तो निश्चय तुम हो सिद्ध करोगे उसे ध्वस्त,
शक्ति की करो मौलिक कल्पना, करो पूजन,
छोड़ दो समर जब तक न सिद्धि हो, रघुनन्दन !
तब तक लक्ष्मण हैं महावाहिनी के नायक
मध्य भाग में, अङ्गद दक्षिण-श्वेत सहायक,
मैं भल्ल-सैन्य; हैं वाम पार्श्व में हनूमान,
नल, नील और छोटे कपिगण—उनके प्रधान;
सुग्रीव, विभीषण, अन्य यूथपति यथासमय
आयेंगे रक्षाहेतु जहाँ भी होगा भय।"

खिल गयी सभा। "उत्तम निश्चय यह, भल्लनाथ !"
कह दिया वृद्ध को मान राम ने झुका माथ।
हो गये ध्यान में लीन पुनः करते विचार,
देखते सकल—तन पुलकित होता बार-बार।
कुछ समय अनन्तर इन्दीवर निन्दित लोचन
खुल गये, रहा निष्पलक भाव में मज्जित मन।
बोले आवेग-रहित स्वर से विश्वास-स्थित—
"मातः, दशभुजा, विश्व-ज्योतिः, मैं हूँ आश्रित;
हो विद्ध शक्ति से है खल महिषासुर मर्दित,
जनरञ्जन-चरण-कमल-तल, धन्य सिंह गर्जित !
यह, यह मेरा प्रतीक, मातः, समझा इङ्गित;
मैं सिंह, इसी भाव से करूँगा अभिनन्दित।"

कुछ समय स्तब्ध हो रहे राम छवि में निमग्न,
फिर खोले पलक कमल-ज्योतिर्दल ध्यान-लग्न;
हैं देख रहे मन्त्री, सेनापति, वीरासन
बैठे उमड़ते हुए, राघव का स्मित आनन।
बोले भावस्थ चन्द्र-मुख-निन्दित रामचन्द्र,
प्राणों में पावन कम्पन भर, स्वर मेघमन्द्र—
"देखो, बन्धुवर सामने स्थित जो यह भूधर
शोभित शत-हरित-गुल्म-तृण से श्यामल सुन्दर,
पार्वती कल्पना हैं इसकी, मकरन्द - विन्दु;
गरजता चरण - प्रान्त पर सिंह वह, नहीं सिन्धु;
दशदिक - समस्त हैं हस्त, और देखो ऊपर,
अम्बर में हुए दिगम्बर अर्चित शशि-शेखर;
लख महाभाव - मंगल पदतल धँस रहा गर्व—
मानव के मन का असुर मन्द, हो रहा खर्व"
फिर मधुर दृष्टि से प्रिय कपि को खींचते हुए
बोले प्रियतर स्वर से अन्तर सींचते हुए
"चाहिये हमें एक सौ आठ, कपि, इन्दीवर,
कम-से-कम अधिक और हो, अधिक और सुन्दर,
जाओ देवीदह, उषःकाल होते सत्वर,
तोड़ो, लाओ वे कमल, लौटकर लड़ो समर।"
अवगत हो जाम्बवान से पथ, दूरत्व, स्थान,
प्रभु - पद - रज सिर धर चले हर्ष भर हनूमान।
राघव ने विदा किया सबको जानकर समय,
सब चले सदय राम की सोचते हुए विजय।

निशि हुई विगत : नभ के ललाट पर प्रथम किरण
फूटी, रघुनन्दन के दृग महिमा - ज्योति - हिरण;
है नहीं शरासन आज हस्त—तूणीर स्कन्ध,
वह नहीं सोहता निविड़-जटा दृढ़ मुकुट-बन्ध;
सुन पड़ता सिंहनाद,—रण-कोलाहल अपार,
उमड़ता नहीं मन, स्तब्ध सुधी हैं ध्यान धार;
पूजोपरान्त जपते दुर्गा, दशभुजा नाम,
मन करते हुए मनन नामों के गुणग्राम;
बीता वह दिवस, हुआ मन स्थिर इष्ट के चरण,
गहन - से - गहनतर होने लगा समाराधन।

क्रम-क्रम से हुए पार राघव के पञ्च दिवस,
चक्र से चक्र मन चढ़ता गया ऊर्ध्व निरलस;
कर-जप पूरा कर एक चढ़ाते इन्दीवर,
निज पुरश्चरण इस भाँति रहे हैं पूरा कर।
चढ़ षष्ठ दिवस आज्ञा पर हुआ समाहित मन,
प्रति जप से खिच-खिच होने लगा महाकर्षण;
सञ्चित त्रिकुटी पर ध्यान द्विदल देवी-पद पर,
जप के स्वर लगा काँपने थर-थर-थर अम्बर;
दो दिन-निष्पन्द एक आसन पर रहे राम,
अर्पित करते इन्दीवर, जपते हुए नाम;
आठवाँ दिवस, मन ध्यान-युक्त चढ़ता ऊपर
कर गया अतिक्रम ब्रह्मा-हरि-शंकर का स्तर,
हो गया विजित ब्रह्माण्ड पूर्ण, देवता स्तब्ध,
हो गये दग्ध जीवन के तप के समारब्ध,
रह गया एक इन्दीवर, मन देखता-पार
प्रायः करने को हुआ दुर्ग जो सहस्रार,
द्विप्रहर रात्रि, साकार हुईं दुर्गा छिपकर,
हँस उठा ले गयी पूजा का प्रिय इन्दीवर।
यह अन्तिम जप, ध्यान में देखते चरण युगल
राम ने बढ़ाया कर लेने को नील कमल;
कुछ लगा न हाथ, हुआ सहसा स्थिर मन चञ्चल
ध्यान की भूमि से उतरे, खोले पलक विमल,
देखा, वह रिक्त स्थान, यह जप का पूर्ण समय
आसन छोड़ना असिद्धि, भर गये नयनद्वय:—
"धिक् जीवन को जो पाता ही आया विरोध,
धिक् साधन, जिसके लिए सदा ही किया शोध!
जानकी! हाय, उद्धार प्रिया का न हो सका।"
वह एक और मन रहा राम का जो न थका;
जो नहीं जानता दैन्य, नहीं जानता विनय
कर गया भेद वह मायावरण प्राप्त कर जय,
बुद्धि के दुर्ग पहुँचा, विद्युत्-गति हतचेतन
राम में जगी स्मृति, हुए सजग पा भाव प्रमन।
"यह है उपाय" कह उठे राम ज्यों मन्द्रित घन—
"कहती थीं माता मुझे सदा राजीवनयन!
दो नील कमल हैं शेष अभी, यह पुरश्चरण
पूरा करता हूँ देकर मातः एक नयन।"

कँहकर देखा तूणीर ब्रह्मशर रहा झलके,
ले लिया हस्त, लक-लक करता वह महाफलक;
ले अस्त्र वाम कर, दक्षिण कर दक्षिण लोचन
ले अर्पित करने को उद्यत हो गये सुमन।
जिस क्षण बँध गया बेधने को दृग दृढ़ निश्चय,
काँपा ब्रह्माण्ड, हुआ देवी का त्वरित उदय :—

"साधु, साधु, साधक धीर, धर्म-धन धन्य राम !"
कह लिया भगवती ने राघव का हस्त थाम।
देखा राम ने—सामने श्री दुर्गा, भास्वर
वाम पद असुर-स्कन्ध पर, रहा दक्षिण हरि पर;
ज्योतिर्मय रूप, हस्त दश विविध अस्त्र-सज्जित,
मन्द स्मित मुख, लख हुई विश्व की श्री लज्जित,
हैं दक्षिण में लक्ष्मी, सरस्वती वाम भाग,
दक्षिण गणेश, कार्तिक बाँयें रण-रङ्ग राग,
मस्तक पर शंकर। पदपद्मों पर श्रद्धाभर
श्री राघव हुए प्रणत मन्दस्वर वन्दन कर।
"होगी जय, होगी जय, हे पुरुषोत्तम नवीन !"
कह महाशक्ति राम के वदन में हुईं लीन।

[रचनाकाल : 23 अक्तूबर, 1936। 'भारत', दैनिक, इलाहाबाद, 26 अक्तूबर, 1936, में प्रकाशित। द्वितीय अनामिका में संकलित]

सम्राट् अष्टम एडवर्ड के प्रति

वीक्षण अराल :—
बज रहे जहाँ
जीवन का स्वर भर; छन्द ताल
मौन में मन्द्र;
ये दीपक जिसके सूर्य - चन्द्र,
बँध रहा जहाँ दिग्देशकाल
सम्राट् ! उसी स्पर्श से खिली
प्रणय के प्रियंगु की डाल - डाल
विंशति शताब्दि,

धन के, मान के बाँध को जर्जर कर महाब्धि
ज्ञान का, बहा जो भर गर्जन—
साहित्यिक स्वर—
"जो करे गन्ध - मधु का वर्जन
वह नहीं भ्रमर;
मानव मानव से नहीं भिन्न
निश्चय, हो श्वेत, कृष्ण अथवा,
वह नहीं क्लिन्न;
भेद कर पंक
निकलता कमल जो मानव का
वह निष्कलंक,
हो कोई सर।"
था सुना, रहे सम्राट्! अमर—
मानव के वर!
वैभव विशाल,
साम्राज्य सप्त-सागर-तरंग-दल-दत्त-माल,
है सूर्य क्षत्र
मस्तक पर सदा विराजित
ले कर आतपत्र,
विच्छुरित छटा—
जल, स्थल, नभ मे
विजयिनी - वाहिनी—विपुल घटा,
क्षण-क्षण भर पर
बदलती इन्द्रधनु इस दिशि से
उस दिशि सत्वर;
वह महासद्म
लक्ष्मी का शत - मणि - लाल - जटित
ज्यों रक्त पद्म,
बैठे उस पर,
नरेन्द्र - वन्दित ज्यों देवेश्वर।
पर रह न सके,
हे मुक्त,
बन्ध का सुखद भार भी सह न सके।
उर की पुकार
जो नव संस्कृति की सुनी
विशद, मार्जित, उदार,

था मिला दिया उससे पहले ही
अपना उर,
इसलिए खिंचे फिर नहीं कभी
पाया निज पुर
जन - जन के जीवन मे सहास,
है नहीं जहाँ वैशिष्ट्य - धर्म का
भ्रू-विलास—
भेदो का क्रम,
मानव को जहाँ पड़ा—
चढ़ जहाँ बड़ा सम्भ्रम।
सिंहासन तज उतरे भू पर,
सम्राट् ! दिखाया
सत्य कौन-सा वह सुन्दर ?
जो प्रिया, प्रिया वह
रही सदा ही अनामिका,
तुम नहीं मिले—
तुमसे है मिले हुए नव
योरप-अमेरिका।

सौरभ प्रमुक्त !
प्रेयसी के हृदय से हो तुम
प्रतिदेशयुक्त,
प्रतिजन, प्रतिमन,
आलिंगित तुमसे हुई
सभ्यता यह नूतन !

[रचनाकाल : 12 दिसम्बर, 1936। 'सरस्वती', मासिक, प्रयाग, जनवरी, 1937, में प्रकाशित। द्वितीय अनामिका मे संकलित]

कविता के प्रति

ऐ, कहो,
मौन मत रहो !
सेवक इतने कवि हैं—इतना उपचार—
लिये हुए है दैनिक सेवा का भार;

धूप, दीप, चन्दन, जल;
गन्ध-सुमन दूर्वादल,
राग-भोग, पाठ-विमल मन्त्र,
पटु-करतल-गत मृदङ्ग,
चपल नृत्य, विविध भङ्ग,
वीणा-वादित सुरङ्ग तन्त्र।

गूंज रहा मन्दिर-मन्दिर का दृढ द्वार,
वहाँ सर्व-विषय-हीन दीन नमस्कार
दिया भू-पतित हो जिसने क्या वह भी कवि ?
सत्य कहो, सत्य कहो, बहु जीवन की छवि !
पहनाये ज्योतिर्मय, जलधि-जलद-भास
अथवा हिल्लोल-हरित-प्रकृति-परित वास।
मुक्ता के हार हृदय,
कर्ण कीर्ण हीरक-द्वय,
हाथ हस्ति-दन्त-वलय मणिमय,
चरण स्वर्ण-नूपुर कल,
जपालक्त श्रीपदतल,
आसन शत-श्वेतोत्पलसञ्चय।

धन्य धन्य कहते है जग-जन मन हार,
वहाँ एक दीन-हृदय ने दुर्वह भार—
'मेरे कुछ भी नहीं'—कह जो अर्पित किया;
कहो, विश्ववन्दिते, उसने भी कुछ दिया ?
कितने वन-उपवन-उद्यान कुसुम-कलि-सजे
निरुपमिते, सहज-भार-चरण-चार से लजे;
गयी चन्द्र-सूर्य-लोक,
ग्रह-ग्रह-प्रति गति अरोक,
नयनों के नवालोक से खिले
चित्रित बहु धवल धाम
अलका के-से विराम
सिहरे ज्यों चरण वाम जब मिले।
हुए कृती कविताव्रत राजकविसमूह,
किन्तु जहाँ पथ-बीहड़ कण्टक-गढ़-व्यूह,
कवि कुरूप, बुला रहा वन्यहार धाम
कहो, वहाँ भी जाने को होते प्राण ?

कितने वे भाव रसस्राव पुराने-नये
संसृति की सीमा के अपर पार जो गये,
गढ़ा इन्ही मे यह तन,
दिया इन्ही से जीवन,
देखे है स्फुरित नयन इन्ही से,
कवियो ने परम कान्ति,
दी जग को चरम शान्ति,
की अपनी दूर भ्रान्ति इन्ही से।
होगा इन भावो से हुआ तुम्हारा जीवन,
कमी नही रही कही कोई—कहते सब जन,
किन्तु वही जिसके आँसू निकले—हृदय हिला,—
कुछ न बना, कहो, कहो, उससे क्या भाव मिला?

[रचनाकाल : 17 फरवरी, 1937। 'सुधा', मासिक, लखनऊ, मार्च, 1938, मे प्रकाशित। द्वितीय अनामिका मे संकलित]

तोड़ती पत्थर

वह तोडती पत्थर;
देखा उसे मैंने इलाहाबाद के पथ पर—
वह तोड़ती पत्थर।

कोई न छायादार
पेड़ वह जिसके तले बैठी हुई स्वीकार;
श्याम तन, भर बँधा यौवन,
नत नयन प्रिय, कर्म-रत मन,
गुरु हथौड़ा हाथ,
करती बार-बार प्रहार :—
सामने तरु-मालिका अट्टालिका, प्राकार।

चढ रही थी धूप;
गर्मियों के दिन
दिवा का तमतमाता रूप;
उठी झुलसाती हुई लू,

रुई ज्यों जलती हुई भू,
गर्द चिनगी छा गयी,
प्रायः हुई दुपहर :—
वह तोडती पत्थर।

देखते देखा मुझे तो एक बार
उस भवन की ओर देखा, छिन्नतार;
देखकर कोई नही,
देखा मुझे उस दृष्टि से
जो मार खा रोयी नही,
सजा सहज सितार,
सुनी मैंने वह नहीं जो थी सुनी झंकार
एक क्षण के बाद वह काँपी सुघर,
ढुलक माथे से गिरे सीकर,
लीन होते कर्म मे फिर ज्यो कहा—
'मैं तोड़ती पत्थर।'

[रचनाकाल : 4 अप्रैल, 1937। 'सुधा,' मासिक, लखनऊ, मई, 1937, मे प्रकाशित। द्वितीय अनामिका मे संकलित]

आवेदन

फिर सँवार सितार लो!
बाँधकर फिर ठाट, अपने
अंक पर झंकार दो!

शब्द के कलि-दल खुलें,
गति-पवन भर काँप थर-थर
मीड-भ्रमरावलि ढुलें,
गीत परिमल बहे निर्मल,
फिर बहार, बहार हो!

स्वप्न ज्यों सज जाय
यह तरी, यह सरित, यह तट
यह गगन, समुदाय
कमल वलयित-सरल-दृग-जल
हार का उपहार हो !

[रचनाकाल : 10 अप्रैल, 1937। 'सुधा,' मासिक, लखनऊ, जून, 1937, मे प्रकाशित ('गीत' शीर्षक से)। द्वितीय अनामिका मे संकलित]

विनय

पथ पर मेरा जीवन भर दो,
बादल हे, अनन्त अम्बर के !
बरस सलिल, गति ऊर्मिल कर दो !

तट हों विटप छाँह के, निर्जन,
सस्मित - कलिदल-चुम्बित-जलकण,
शीतल शीतल बहे समीरण,
कूजें द्रुम - विहंगगण, वर दो !

दूर ग्राम की कोई वामा
आये मन्द चरण अभिरामा,
उतरे जल में अवसन श्यामा,
अंकित उर छबि सुन्दरतर हो !

[रचनाकाल : 3 जुलाई, 1937। द्वितीय अनामिका में संकलित]

उत्साह

बादल, गरजो !
घेर घेर घोर गगन, धाराधर ओ !
ललित ललित, काले घुँघराले,
बाल कल्पना के - से पाले,
विद्युत-छबि उर में, कवि, नवजीवन वाले !
वज्र छिपा, नूतन कविता

फिर भर दो।
बादल, गरजो !
विकल विकल, उन्मन थे उन्मन
विश्व के निदाघ के सकल जन,
आये अज्ञात दिशा से अनन्त के घन !
तप्त धरा, जल से फिर
शीतल कर दो :—
बादल, गरजो !

[रचनाकाल : 6 जुलाई, 1937। 'माधुरी', मासिक, लखनऊ, अगस्त, 1937, मे प्रकाशित ('गीत' शीर्षक से)। द्वितीय अनामिका मे संकलित]

वन-बेला

वर्ष का प्रथम
पृथ्वी के उठे उरोज मञ्जु पर्वत निरुपम
किसलयों बँधे,
पिक-भ्रमर-गुञ्ज भर मुखर प्राण रच रहे सधे
प्रणय के गान,
सुनकर सहसा,
प्रखर से प्रखरतर हुआ तपन-यौवन सहसा;
ऊर्जित, भास्वर
पुलकित शत शत व्याकुल कर भर
चूमता रसा को बार बार चुम्बित दिनकर
क्षोभ से, लोभ से, ममता से,
उत्कण्ठा से, प्रणय के नयन की समता से,
सर्वस्व दान
देकर, लेकर सर्वस्व प्रिया का सुकृत मान।
दाब में ग्रीष्म,

भीष्म से भीष्म बढ़ रहा ताप,
प्रस्वेद कम्प,
ज्यों ज्यों युग उर पर और चाप—
और सुख-झम्प;

निश्वास सघन
पृथ्वी की—बहती लू : निर्जीवन
जड़ - चेतन।

यह सान्ध्य समय,
प्रलय का दृश्य भरता अम्बर,
पीताभ, अग्निमय, ज्यों दुर्जय,
निर्धूम, निरभ्र, दिगन्त - प्रसर,
कर भस्मीभूत समस्त विश्व को एक शेष,
उड़ रही धूल, नीचे अदृश्य हो रहा देश।
मैं मन्द - गमन,
घर्मांक्त, विरक्त, पार्श्व - दर्शन से खींच नयन,
चल रहा नदी तट को करता मन में विचार—
'हो गया व्यर्थ जीवन
मैं रण में गया हार!
सोचा न कभी—
अपने भविष्य की रचना पर चल रहे सभी!'
—इस तरह बहुत कुछ।
आया निज इच्छित स्थल पर
बैठा एकान्त देखकर
मर्माहत स्वर भर!
फिर लगा सोचने यथासूत्र—'मैं भी होता
यदि राजपुत्र—मैं क्यों न सदा कलंक ढोता,
ये होते—जितने विद्याधर—मेरे अनुचर,
मेरे प्रसाद के लिए विनत - सिर उद्यत - कर;
मैं देता कुछ, रख अधिक, किन्तु जितने पेपर,
सम्मिलित कण्ठ से गाते मेरी कीर्ति अमर,
जीवन - चरित्र
लिख अग्रलेख अथवा, छापते विशाल चित्र।
इतना भी नहीं, लक्षपति का भी यदि कुमार
होता मैं, शिक्षा पाता अरब - समुद्र - पार,
देश की नीति के मेरे पिता परम पण्डित
एकाधिकार रखते भी धन पर, अविचल - चित
होते उग्रतर साम्यवादी, करते प्रचार,
चुनती जनता राष्ट्रपति उन्हें ही सुनिर्धार,

पैसे मे दस राष्ट्रीय गीत रचकर उन पर
कुछ लोग वेचते गा - गा गर्दभ - मर्दन - स्वर,
हिन्दी - सम्मेलन भी न कभी पीछे को पग
रखता कि अटल साहित्य कहीं यह हो डगमग,
मैं पाता खबर तार से त्वरित समुद्र - पार,
लार्ड के लाड़लों को देता दावत—विहार;
इस तरह खर्च केवल सहस्र षट मास मास
पूरा कर आता लौट योग्य निज पिता पास
वायुयान से, भारत पर रखता चरण - कमल,
पत्रों के प्रतिनिधि - दल मे मच जाती हलचल,
दौड़ते सभी, केमरा हाथ कहते सत्वर
निज अभिप्राय, मैं सभ्य मान जाता झुककर,
होता फिर खड़ा इधर को मुखकर कभी उधर,
बीसियों भाव की दृष्टि सतत नीचे ऊपर;
फिर देता दृढ़ सन्देश देश को मर्मान्तिक,
भाषा के बिना न रहती अन्य गन्ध प्रान्तिक,
जितने रूस के भाव, मैं कह जाता अस्थिर,
समझते विचक्षण ही जब वे छपते फिर - फिर,
फिर पिता संग
जनता की सेवा का व्रत मैं लेता अभङ्ग,
करता प्रचार
मञ्च पर खड़ा हो, साम्यवाद इतना उदार !

तप तप मस्तक
हो गया, सान्ध्य नभ का रक्ताभ दिगन्त-फलक;
खोलीं आँखें आतुरता से, देखा, अमन्द
प्रेयसी के अलक से आती ज्यों स्निग्ध गन्ध,
'आया हूँ मैं तो यहाँ अकेला, रहा बैठ',
सोचा सत्वर,
देखा फिरकर, घिरकर हँसती उपवन - बेला
जीवन में भर :—
यह ताप, त्रास
मस्तक पर लेकर उठी अतल की अतुल साँस,
ज्यों सिद्धि परम
भेदकर कर्म - जीवन के दुस्तर क्लेश, सुषम

आयी ऊपर,
जैसे पारकर क्षार सागर
अप्सरा सुघर
सिक्त-तन-केश शत लहरों पर
काँपती विश्व के चकित दृश्य के दर्शन-शर।

बोला मैं—'बेला, नहीं ध्यान
लोगों का जहाँ, खिली हो बनकर वन्य गान!
जब ताप प्रखर,
लघु प्याले में अतल की सुशीतलता ज्यों भर
तुम करा रही हो यह सुगन्ध की सुरा पान!'

लाज से नम्र हो, उठा, चला मैं और पास
सहसा बह चली सान्ध्य बेला की सुबातास,
झुक-झुक, तन-तन, फिर झूम-झूम, हँस-हँस, झकोर,
चिरपरिचित चितवन डाल, सहज मुखडा मरोर,
भर मुहुर्मुहुर् तन-गन्ध निकल बोली बेला—
'मैं देती हूँ सर्वस्व, छुओ मत, अवहेला
की अपनी स्थिति की जो तुमने, अपवित्र स्पर्श
हो गया तुम्हारा, रुको, दूर से करो दर्श।'

मैं रुका वहीं;
वह शिखा नवल
आलोक स्निग्ध भर दिखा गयी पथ जो उज्ज्वल।
मैंने स्तुति की—'हे वन्य वह्नि की तन्वि नवल!
कविता में कहाँ खुले ऐसे दल दुग्ध धवल?—
यह अपल स्नेह,—
विश्व के प्रणयि-प्रणयिनियों-कर
हार-उर गेह?—
गति सहज मन्द
यह कहाँ—कहाँ वामालक चुम्बित पुलक-गन्ध?'

'केवल आपा खोया, खेला
इस जीवन में',
कह सिहरी तन मे वन-बेला।
'कू—ऊ कू—ऊ' बोली कोयल अन्तिम सुख-स्वर,
'पी कहाँ' पपीहा-प्रिया मधुर विष गयी छहर

उर, बढा आयु
पल्लव-पल्लव को हिला हरित वह गयी वायु,
लहरों में कम्प और लेकर उत्सुक सरिता
तैरी, देखती तमश्चरिता
छवि वेला की नभ की ताराएँ निरुपमिता,
शत-नयन-दृष्टि
विस्मय में भरकर रही विविध-आलोक-सृष्टि।

भाव में हरा मैं, देख मन्द हँस दी बेला,
बोली अस्फुट स्वर से,—"यह जीवन का मेला।
चमकता सुघर बाहरी वस्तुओं को लेकर,
त्यों-त्यों आत्मा की निधि पावन बनती पत्थर।
बिकती जो कौड़ी मोल
यहाँ होगी कोई इस निर्जन मे,
खोजो, यदि हो समतोल
वहाँ कोई, विश्व के नगर-धन में।
है वहाँ मान,
इसलिए बड़ा है एक, शेष छोटे अजान;
पर ज्ञान जहाँ,
देखना—बडे छोटे; असमान, समान वहाँ:—
सब सुहृद्वर्ग
उनकी आँखों की आभा से दिग्देश स्वर्ग।'

बोला मैं—'यही सत्य, सुन्दर!
नाचती वृन्त पर तुम, ऊपर
होता जब उपल-प्रहार प्रखर!
अपनी कविता
तुम रहो एक मेरे उर मे
अपनी छवि में शुचि सञ्चरिता।'

फिर उष:काल
मैं गया टहलता हुआ, बेल की झुका डाल
तोड़ता फूल कोई ब्राह्मण;
"जाती हूँ मैं," बोली बेला,
"जीवन प्रिय के चरणों पर करने को अर्पण":—

देखती रही;
निस्वन, प्रभात की वायु बही।

[रचनाकाल : 11 जुलाई, 1937। 'सुधा', मासिक, लखनऊ, अगस्त, 1937, मे प्रकाशित। द्वितीय अनामिका में संकलित]

हिन्दी के सुमनों के प्रति पत्र

मैं जीर्ण-साज बहु छिद्र आज,
तुम सुदल सुरङ्ग सुवास सुमन
मैं हूँ केवल पदतल - आसन,
तुम सहज विराजे महाराज।

ईर्ष्या कुछ नहीं मुझे, यद्यपि
मैं ही वसन्त का अग्रदूत,
ब्राह्मण - समाज मे ज्यों अछूत
मैं रहा आज यदि पार्श्वच्छवि।

तुम मध्य भाग के, महाभाग! —
तरु के उर के गौरव प्रशस्त।
मैं पढ़ा जा चुका पत्र, न्यस्त
तुम अलि के नव रस - रङ्गराग।

देखो, पर, क्या पाते तुम "फल"
देगा जो भिन्न स्वाद रस भर,
कर पार तुम्हारा भी अन्तर
निकलेगा जो तरु का सम्बल।

फल सर्वश्रेष्ठ नायाब चीज
या तुम बाँधकर रँगा धागा,
फल के भी उर का कटु त्यागा;
मेरा आलोचक एक बीज।

[रचनाकाल : 6 अगस्त, 1937। 'माधुरी', मासिक, लखनऊ, नवम्बर, 1937, में प्रकाशित। द्वितीय अनामिका में संकलित]

उक्ति

कुछ न हुआ, न हो।
मुझे विश्व का सुख, श्री, यदि केवल
पास तुम रहो!

मेरे नभ के बादल यदि न कटे—
चन्द्र रह गया ढका,
तिमिर रात को तिरकर यदि न अटे
लेश गगन-भास का,
रहेंगे अधर हँसते, पथ पर, तुम
हाथ यदि गहो।

बहु-रस साहित्य विपुल यदि न पढा—
मन्द सबों ने कहा,
मेरा काव्यानुमान यदि न बढा—
ज्ञान, जहाँ का रहा,
रहे, समझ है मुझमें पूरी, तुम
कथा यदि कहो।

[रचनाकाल : 7 अगस्त, 1937। 'सरस्वती', मासिक, प्रयाग, नवम्बर, 1937, मे प्रकाशित। द्वितीय अनामिका में सकलित]

ठूँठ

ठूँठ यह है आज!
गयी इसकी कला,
गया है सकल साज!
अब यह वसन्त से होता नही अधीर,
पल्लवित, झुकता नही अब यह धनुष-सा,
कुसुम से काम के चलते नही हैं तीर,
छाँह मे बैठते नही पथिक आह भर,
झरते नही यहाँ दो प्रणयियो के नयन-नीर।
केवल वृद्ध विहग एक बैठता कुछ कर याद!

[रचनाकाल : 11 सितम्बर, 1937। द्वितीय अनामिका मे संकलित]

सेवा-प्रारम्भ

(यह एक कथा है, उस समय की, जब इस देश में देश के ही लोगों या संस्था द्वारा किसी प्रकार की सेवा प्रचलित न हुई थी। यह कार्य श्रीरामकृष्ण मिशन शुरू करता है। यह कथा जिस घटना के आधार पर है, वह बंगाल में घटी थी। परमहंस श्रीरामकृष्णदेव के शिष्य स्वामी विवेकानन्दजी के गुरुभाई स्वामी अखण्डानन्दजी इस घटना के चरितनायक हैं। ये उस समय वहाँ भ्रमण कर रहे थे। यह सेवा इन्होंने की थी। इसके बाद संघबद्ध रूप से श्रीरामकृष्ण मिशन लोक-सेवा करता है। इसके बाद देश में अन्यान्य सेवादल संगठित होते हैं। स्वामी अखण्डानन्दजी की इस सेवा के समय स्वामी विवेकानन्दजी थे। स्वामी अखण्डानन्दजी ने ही स्वामी विवेकानन्दजी को पीड़ितजन-नारायणों की सेवा के लिए प्रवृत्त किया था। बाद को स्वामी अखण्डानन्दजी श्रीरामकृष्णमिशन के प्रेसीडेंण्ट हुए थे—तीसरे। अब इनका देहावसान हो गया है।)

अल्प दिन हुए,
भक्तों ने रामकृष्ण के चरण छुए।
जगी साधना
जन-जन में भारत की नवाराधना।
नयी भारती
जागी जन-जन को कर नयी आरती।
घेर गगन को अगणन
जागे रे चन्द्र-तपन—
पृथ्वी-ग्रह-तारागण ध्यानाकर्षण,
हरित-कृष्ण-नील-पीत
रक्त-शुभ्रज्योति-नीत
नव-नव विश्वोपवीत, नव-नव साधन।

खुले नयन नवल रे—
ऋतु के-से भिन्न सुमन
करते ज्यों विश्व-स्तवन
आमोदित किये पवन भिन्न गन्ध से।
अपर ओर करता विज्ञान घोर नाद
दुर्धर शत-रथ-घर्घर विश्व-विजय-वाद।

स्थल-जल है समाच्छन्न
विपुल-मार्ग-जाल-जन्य,
तार-तार समुत्सन्न देश-महादेश,
निर्मित शत लौहयन्त्र
भीमकाय मृत्युतन्त्र
चूस रहे अन्त्र, मन्त्र रहा यही शेष।
बढ़े समर के प्रहरण,
नये-नये हैं प्रकरण,
छाया उन्माद मरण-कोलाहल का,
दर्प जहर, जर्जर नर,
स्वार्थपूर्ण गूँजा स्वर,
रहा है विरोध पहर इस-उस दल का।
बँधा व्योम, बढ़ी चाह,
बहा प्रखरतर प्रवाह,
वैज्ञानिक समुत्साह आगे,
सोये सौ-सौ विचार
थपकी दे बार-बार
मौलिक मन को सुधार जागे!
मैक्सिम-गन् करने को जीवन-संहार
हुआ जहाँ, खुला वहीं नोब्ल-पुरस्कार!
राजनीति नागिनी
डँसती है, हुई सभ्यता अभागिनी।
जितने ये यहाँ नवयुवक—
ज्योति के तिलक
खड़े सहोत्साह,
एक-एक लिये हुए प्रलयानल-दाह।
श्री 'विवेक', 'ब्रह्म', 'प्रेम', 'शारदा',*
ज्ञान-योग-भक्ति-कर्म-धर्म-नर्मदा,—
बहीं विविध आध्यात्मिक धाराएँ
तोड़ गहन प्रस्तर की काराएँ
क्षिति को कर जाने को पार,
पाने को अखिल विश्व का समस्त सार।
गृही भी मिले,
आध्यात्मिक जीवन के रूप यों खिले।

* स्वामी विवेकानन्द, स्वामी ब्रह्मानन्द, स्वामी प्रेमानन्द, स्वामी शारदानन्द।

अन्य घोर भीषण रव-यान्त्रिक झंकार—
विद्या का दम्भ,
यहाँ महामौनभरा स्तब्ध निराकार—
नैसर्गिक रङ्ग।
बहुत काल बाद
अमेरिका-धर्म महासभा का निनाद
विश्व ने सुना, काँपी संसृति की थी दरी,
गरजा भारत का वेदान्त-केसरी।
श्रीमत्स्वामी विवेकानन्द
भारत के मुक्त-ज्ञानछन्द
बँधे भारती के जीवन से
गान गहन एक ज्यों गगन से,
आये भारत, नूतन शक्ति ले जगी
जाति यह रँगी।
स्वामी श्रीमदखण्डानन्दजी
एक और प्रति उस महिमा की,
करते भिक्षा फिर निस्सम्बल
भगवा-कौपीन-कमण्डलु-केवल;
फिरते थे मार्ग पर
जैसे जीवित विमुक्त ब्रह्म-शर।
इसी समय भक्त रामकृष्ण के
एक जमींदार महाशय दिखे।
एक-दूसरे को पहचान कर
प्रेम से मिले अपना अति प्रिय जन जानकर।
जमीदार अपने घर ले गये,
बोले—"कितने दयालु रामकृष्ण देव थे!
आप लोग धन्य हैं,
उनके जो ऐसे अपने, अनन्य है।"—
द्रवित हुए। स्वामीजी ने कहा,—
"नवद्वीप जाने की है इच्छा,—
महाप्रभु श्रीमच्चैतन्यदेव का स्थल
देखूँ, पर सम्यक् निस्सम्बल
हूँ इस समय, जाता है पास तक जहाज,
सुना है कि छूटेगा आज।"
धूप चढ़ रही थी, बाहर को,
जमीदार ने देखा, घर को

फिर घड़ी, हुए उन्मन
अपने आफिस का कर चिन्तन;
उठे, गये भीतर,
बड़ी देर बाद आये बाहर,
दिया एक रुपया, फिर फिरकर
चले गये आफिस को सत्वर।

स्वामीजी घाट पर गये,
"कल जहाज छूटेगा" सुनकर
फिर रुक नहीं सके,
जहाँ तक करें पैदल पार—
गंगा के तीर से चले।
चढ़े दूसरे दिन स्टीमर पर
लम्बा रास्ता पैदल तै कर।
आया स्टीमर, उतरे प्रान्त पर. चले
देखा, हैं दृश्य और ही बदले,—
दुबले-दुबले जितने लोग,
लगा देश-भर को ज्यों रोग,
दौड़ते हुए दिन में स्यार
बस्ती में—बैठे भी गीध महाकार,
आती बदबू रह-रह,
हवा बह रही व्याकुल कह-कह;
कहीं नहीं पहले की चहल-पहल,
कठिन हुआ यह, जो था बहुत सहल।
सोचते व देखते हुए
स्वामीजी चले जा रहे थे।

इस समय एक मुसलमान-बालिका
भरे हुए पानी मृदु आती थी पथ पर, अम्बुपालिका;
घड़ा गिरा, फूटा,
देख बालिका का दिल टूटा,
होश उड़ गये
काँपी वह सोच के,
रोयी चिल्लाकर,
फिर ढाढ़ मार-मारकर
जैसे माँ-बाप मरे हों घर।

सुनकर स्वामीजी का हृदय हिला,
पूछा —"कह, बेटी कह, क्या हुआ ?"
फफक-फफककर
कहा बालिका ने,—"मेरे घर
एक यही बचा था घड़ा,
मारेगी माँ सुनकर फूटा।"
रोयी फिर
वह विभूति कोई !
स्वामीजी ने देखी आँखें—
गीली वे पाँखें,
करुण स्वर सुना,
उमड़ी स्वामीजी में करुणा।
बोले—"तुम चलो
घड़े की दूकान जहाँ हो,
नया एक ले दें;"
खिलीं बालिका की आँखें।
आगे-आगे चली
बड़ी राह होती बाजार की गली,
आ कुम्हार के यहाँ ?
खड़ी हो गयी घड़े दिखा।
एक देखकर
पुख्ता सबमें विशेषकर,
स्वामीजी ने उसे दिला दिया,
खुश होकर हुई वह बिदा।
मिले रास्ते में लड़के
भूखों मरते।
बोली वह देख के,—"एक महाराज
आये है आज,
पीले-पीले कपड़े पहने,
होंगे उस घड़े की दूकान पर खड़े,
इतना अच्छा घड़ा
मुझे ले दिया !
जाओ, पकड़ो उन्हें, जाओ,
ले देंगे खाने को, खाओ।"
दौड़े लड़के,
तब तक स्वामीजी थे बातें करते,

फिर घड़ी, हुए उन्मन
अपने आफिस का कर चिन्तन;
उठे, गये भीतर,
बड़ी देर बाद आये बाहर,
दिया एक रुपया, फिर फिरकर
चले गये आफिस को सत्वर।

स्वामीजी घाट पर गये,
"कल जहाज छूटेगा" सुनकर
फिर रुक नहीं सके,
जहाँ तक करें पैदल पार—
गंगा के तीर से चले।
चढ़े दूसरे दिन स्टीमर पर
लम्बा रास्ता पैदल तै कर।
आया स्टीमर, उतरे प्रान्त पर. चले
देखा, हैं दृश्य और ही बदले,—
दुबले-दुबले जितने लोग,
लगा देश-भर को ज्यों रोग,
दौड़ते हुए दिन में स्यार
बस्ती में—बैठे भी गीध महाव
आती बदबू रह-रह,
हवा बह रही व्याकुल कह-
कहीं नहीं पहले की चहल
कठिन हुआ यह, जो था
सोचते व देखते हुए
स्वामीजी चले जा रहे

स्वामीजी पैठे
सेवा करने लगे,
साफ की यह जगह,
दवा और पथ फिर देने लगे
मिलकर अफसरों से
भीख माँग बड़े-बड़े घरों से।
लिखा मिशन को भी
दृश्य और भाव दिखा जो भी।

खड़ी हुई बुढ़िया सेवा से,
एक रोज बोली,—"तुम मेरे बेटे थे उस जन्म के।"
स्वामीजी ने कहा,—
"अबके की भी हो तुम मेरी माँ।"

[रचनाकाल : 7 दिसम्बर, 1937। द्वितीय अनामिका मे संकलित]

मरण-दृश्य

कहा जो न, कहो!
नित्य-नूतन, प्राण, अपने
गान रच-रच दो!

विश्व सीमाहीन;
बाँधती जाती मुझे कर-कर
व्यथा से दीन!
कह रही हो—"दुःख की विधि—
यह तुम्हें ला दी नयी निधि,
विहग के वे पंख बदले,—
किया जल का मीन;
मुक्त अम्बर गया अब हो
जलधि जीवन को!"

सकल साभिप्राय;
समझ पाया था नही मैं,
थी तभी यह हाय!

दिये थे जो स्नेह-चुम्बन,
आज प्याले गरल के घन;
कह रही हो हँस—"पियो, प्रिय,
पियो, प्रिय, निरुपाय!
मुक्ति हूँ मैं, मृत्यु मे
आयी हुई, न डरो!"

[रचनाकाल : 5 जनवरी, 1938। 'माधुरी', मासिक, लखनऊ, फरवरी, 1938, मे प्रकाशित ('गीत' शीर्षक से)। द्वितीय अनामिका मे संकलित]

मुक्ति

तोडो, तोडो, तोड़ो कारा
पत्थर की, निकलो फिर,
गङ्गा-जल-धारा!
गृह-गृह की पार्वती!
पुनः सत्य-सुन्दर-शिव को सँवारती
उर-उर की बनो आरती!—
भ्रान्तों की निश्चल ध्रुवतारा।
तोडो, तोड़ो, तोड़ो कारा!

[रचनाकाल : 6 जनवरी, 1938। द्वितीय अनामिका में संकलित]

खुला आसमान

वहुत दिनों बाद खुला आसमान।
निकली है धूप, हुआ खुश जहान।

दिखी दिशाएँ, झलके पेड,
चरने को चले ढोर—गाय-भैंस-भेड,
खेलने लगे लड़के छेड़-छेड़—
लड़कियां घरो को कर भासमान।

लोग गाँव - गाँव को चले,
कोई बाजार, कोई बरगद के पेड़ के तले
जाँघिया - लँगोटा ले सँभले,
तगड़े - तगड़े सीधे नौजवान।

पनघट में बड़ी भीड़ हो रही,
नहीं ख्याल आज कि भीगेगी चूनरी,
बातें करती हैं वे सब खड़ी,
चलते हैं नयनों के सधे बान।

[रचनाकाल : 6 जनवरी, 1938। द्वितीय अनामिका में संकलित]

प्राप्ति

तुम्हें खोजता था मैं,
पा नहीं सका,
हवा बन बहीं तुम, जब
मैं थका, रुका।
मुझे भर लिया तुमने गोद में,
कितने चुम्बन दिये,
मेरे मानव-मनोविनोद में
नैसर्गिकता लिये;
सूखे श्रम-सीकर वे
छबि के निर्झर झरे नयनों से,
शक्त शिराएँ हुईं रक्त-वाह ले,
मिलीं—तुम मिलीं, अन्तर कह उठा,
जब थका, रुका।

[रचनाकाल : 1 फरवरी, 1938। द्वितीय अनामिका में संकलित]

हारी नहीं, देख, आँखें—
परी - नागरी की :
नभ कर गयी पार पाँखें—
परी - नागरी की।
तिल नीलिमा को रहे स्नेह से भर
जगकर नयी ज्योति उतरी धरा पर,
रँग से भरी है, हरी हो उठी हर
तरु की तरुण-तान शाखें :
परी - नागरी की—
हारी नहीं, देख, आँखें।

[रचनाकाल : 2 फरवरी, *1938*। 'सुधा', मासिक, लखनऊ, अप्रैल, *1938*, मे प्रकाशित ('होली' शीर्षक से)। द्वितीय अनामिका मे संकलित]

वसन्त की परी के प्रति

आओ, आओ फिर, मेरे वसन्त की परी—
छबि-विभावरी;
सिहरो, स्वर से भर-भर, अम्बर की सुन्दरी—
छबि-विभावरी !

बहे फिर चपल ध्वनि-कलकल तरङ्ग,
तरल मुक्त नव - नव छल के प्रसङ्ग,
पूरित-परिमल निर्मल सजल-अङ्ग,
शीतल - सुख मेरे तट की निस्तल निर्झरी—
छबि-विभावरी !

निर्जन ज्योत्स्नाचुम्बित वन सघन,
सहज समीरण, कली निरावरण
आलिङ्गन दे उभार दे मन,
तिरे नृत्य करती मेरी छोटी - सी तरी—
छबि-विभावरी !

आयी है फिर मेरी 'बेला' की यह वेला,
'जुही की कली' की प्रियतम से परिणय-हेला,
तुमसे मेरी निर्जन बातें - सुमिलन मेला,
कितने भावों से हर जब हो मन पर विहरी—
छवि-विभावरी।

[रचनाकाल : 26 फरवरी, 1938। द्वितीय अनामिका में संकलित]

वे किसान की नयी बहू की आँखें

नहीं जानती जो अपने को खिली हुई
विश्व - विभव से मिली हुई,
नहीं जानती सम्राज्ञी अपने को,
नहीं कर सकी सत्य कभी सपने को,
वे किसान की नयी बहू की आँखें
ज्यों हरीतिमा में बैठे दो विहग बन्द कर पाँखें।

वे केवल निर्जन के दिशाकाश की,
प्रियतम के प्राणों के पास - हास की,
भीरु पकड़ जाने को हैं दुनिया के कर से
बढ़े क्यों न वह पुलकित हो कैसे भी वर से।

[रचनाकाल : 1 मार्च, 1938। द्वितीय अनामिका में संकलित]

नर्गिस

[1]

बीत चुका शीत, दिन वैभव का दीर्घतर
डूब चुका पश्चिम में, तारक - प्रदीप - कर
स्निग्ध-शान्त-दृष्टि सन्ध्या चली गयी मन्द मन्द
प्रिय की समाधि - ओर, हो गया है रव बन्द

विहगों का नीड़ों पर, केवल गंगा का स्वर
सत्य ज्यों शाश्वत सुन पड़ता है स्पष्टतर,
बहता है साम गत गौरव का दीर्घ काल
प्रहर - तरंग - कर - ललित - तरल - ताल।

चैत्र का है कृष्ण पक्ष, चन्द्र तृतीया का आज
उग आया गगन मे, ज्योत्स्ना तनु-शुभ्र-साज
नन्दन की अप्सरा धरा को विनिर्जन जान
उतरी सभय करने को नैश गंगा - स्नान।
तट पर उपवन सुरम्य, मैं मौनमन
बैठा देखता हूँ तारतम्य विश्व का सघन;
जाह्नवी को घेरकर आप उठे ज्यो करार
त्यों ही नभ और पृथ्वी लिये ज्योत्स्ना ज्योतिर्धार,
सूक्ष्मतम होता हुआ जैसे तत्व ऊपर को
गया, श्रेष्ठ मान लिया लोगों ने महाम्बर को,
स्वर्ग त्यों धरा से श्रेष्ठ, बडी देह से कल्पना,
श्रेष्ठ सृष्टि स्वर्ग की है खड़ी सशरीर ज्योत्स्ना।

[2]

युवती धरा का यह था भरा वसन्त - काल,
हरे - भरे स्तनो पर पड़ी, कलियों की माल,
सौरभ से दिक्कुमारियों का मन सींचकर
बहता है पवन प्रसन्न तन खींचकर।
पृथ्वी स्वर्ग से ज्यो कर रही है होड़ निष्काम
मैंने फेर मुख देखा, खिली हुई अभिराम
नर्गिस, प्रणय के ज्यों नयन हों एकटक
प्रिय - भाव - भरे देखते हुए रहे हों थक,
मुख पर लिखी अविश्वास की रेखाएँ पढ
स्नेह के निगड मे ज्यो बँधे भी रहे है कढ।
कहती ज्यों नर्गिस—"आयी जो परी पृथ्वी पर
स्वर्ग की, इसी से हो गयी क्या सुन्दरतर?
पार कर अन्धकार आयी जो आकाश पर,
सत्य कहो, मित्र, नही सकी स्वर्ग प्राप्त कर?
कौन अधिक सुन्दर है—देह अथवा आँखें
चाहते भी जिसे तुम—पक्षी वह या कि पाँखें?

स्वर्ग झुक आये यदि धरा पर तो सुन्दर
या कि यदि धरा चढ़े स्वर्ग पर तो सुघर" ?

वही हवा नर्गिस की, मन्द छा गयी सुगन्ध,
धन्य, 'स्वर्ग यही', कह किये मैंने दृग बन्द।

[रचनाकाल : 2 मई, 1938। द्वितीय अनामिका में संकलित]

नासमझी

समझ नहीं सके तुम,
हारे हुए झुके तभी नयन तुम्हारे, प्रिय।
भरा उल्लास था हृदय मेरे जब,—
काँपा था वक्ष,
तब देखी थी तुमने
मेरे मल्लिका के हार की
कम्पन, सौन्दर्य को !

[रचनाकाल : 15 मई, 1938। 'सुधा', मासिक, लखनऊ, जुलाई, 1938, में प्रकाशित। द्वितीय अनामिका में संकलित]

उक्ति

जला है जीवन यह
आतप में दीर्घकाल;
सूखी भूमि, सूखे तरु,
सूखे सिक्त आलवाल;
बन्द हुआ गुञ्ज, धूल-
धूसर हो गये कुञ्ज,
किन्तु पड़ी व्योम - उर
बन्धु, नील मेघ - माल।

[रचनाकाल : 16 मई, 1938। 'माधुरी', मासिक, लखनऊ, जुलाई, 1938, में प्रकाशित। द्वितीय अनामिका में संकलित]

सहज

सहज-सहज पग धर आओ उतर;
देखें वे सभी तुम्हें पथ पर।

वह जो सिर बोझ लिये आ रहा,
वह जो बछड़े को नहला रहा,
वह जो इस - उससे बतला रहा,
देखूं, वे तुम्हे देख जाते भी हैं ठहर ?

उनके दिल की धड़कन से मिली
होगी तस्वीर जो कही खिली,
देखूं मैं भी, वह कुछ भी हिली .
तुम्हें देखने पर, भीतर - भीतर ?

[रचनाकाल : 12 अगस्त, 1938 । 'रूपाभ', मासिक, कालाकाँकर, सितम्बर, 1938, में प्रकाशित। द्वितीय अनामिका मे संकलित]

और और छबि

और और छबि रे यह !
नूतन भी कवि, रे यह
और और छबि !

समझ तो सही
जब भी यह नही गगन
वह मही नही,
बादल वह नहीं जहाँ
छिपा हुआ पवि, रे यह
और और छबि !

यत्न है यहाँ,
जैसे देखा पहले होता अथवा सुना;

किन्तु नही पहल की,
यहाँ कही हवि, रे यह
और और छबि !

[रचनाकाल : 17 अगस्त, 1938। 'रूपाभ', मासिक, कालाकांकर, सितम्बर, 1938, में प्रकाशित। द्वितीय **अनामिका** में संकलित]

मेरी छबि ला दो

मेरी छबि उर - उर मे ला दो !
मेरे नयनों से ये सपने समझा दो !

जिस स्वर से भरे नवल नीरद,
हुए प्राण पावन गा हुआ हृदय भी गद्‌गद,
जिस स्वर - वर्षा ने भर दिये सरित्-सर-सागर,
मेरी यह धरा धन्य हुई, भरा नीलाम्बर,
वह स्वर शर्मद उनके कण्ठों में गा दो !

जिस गति मे नयन - नयन मिलते,
खिलते हैं हृदय, कमल के दल-के-दल हिलते,
जिस गति की सहज सुमति जगा जन्म-मृत्यु-विरति
लगती है जीवन से जीवन की परमारति,
चरण - नयन - हृदय - वचन को तुम सिखला दो !

[रचनाकाल : 17 अगस्त, 1938। 'वीणा', मासिक, इन्दौर, फरवरी, 1940, में प्रकाशित। द्वितीय **अनामिका** मे संकलित]

वारिद-वन्दना

मेरे जीवन में हँस दीं हर
वारिद - झर !

ं, आकुल - नयने !
सुरभि, मुकुल - शयने !
जागी जल-श्यामल पल्लव पर
छवि विश्व की सुघर !

पवन - परस सिहरी,
मुक्त - गन्ध विहरी,
लहरी उर से उर दे सुन्दर
तनु आलिंगन कर !

अपनापन भूला,
प्राण - शयन झूला,
बैठी तुमे, चितवन से सञ्चर
छाये घन अम्बर !

[रचनाकाल : 17 अगस्त, 1938 । द्वितीय **अनामिका** में संकलित]

गीत

जैसे हम हैं वैसे ही रहें,
लिये हाथ एक दूसरे का
अतिशय सुख के सागर मे बहे ।

मुदें पलक, केवल देखें उर में,—
सुनें सब कथा परिमल-सुर में,
जो चाहें, कहें वे, कहें ।

वहाँ एक दृष्टि से अशेष प्रणय
देख रहा है जग को निर्भय,
दोनो उसकी दृढ़ लहरें सहें ।

[रचनाकाल : 13 सितम्बर, 1938 । बिना शीर्षक के द्वितीय **अनामिका** के प्रारम्भ मे निराला की हस्तलिपि मे मुद्रित]

गर्वोक्ति

हारता है मेरा मन विश्व के समर मे जब
कलरव से मौन ज्यों,
शान्ति के लिए त्यो ही
हार बन रही हूँ प्रिय, गले की तुम्हारी मैं,
निभृत की, गन्ध की, तृप्ति की, निशा की।
जानती हूँ, तुममे ही
शेष है दान मेरा—मेरा अस्तित्व सब;
दूसरा प्रभात जब फैलेगा विश्व मे
कुछ न रह जायगा मुझमे तब देने को;
किन्तु आजीवन तुम एक तत्त्व समझोगे—
और क्या विश्व मे अधिकतर शोभन है,
अधिक प्राणों के पास, अधिक आनन्दमय,
अधिक कहने के लिए, प्रगति की सार्थकता।

[रचनाकाल : 14 सितम्बर, 1938। आराधना में संकलित]

परिशिष्ट

मौलिक कविताएँ

रक्षा-बन्धन (1)

परिमलयुत मृदु मन्द मलय वह गुंजत छन छन मत्त मधुप गन,
उठत वीन झंकार चतुर्दिसि चढ्यो मदन जनु करन कतहुँ रन।
घन-पिय-अधरन चूम चाँदनी, अलस चुवत तन सुधा-स्वेद-कन,
प्रकृति-पुरुष कर मिलन मनोहर अति सुखकर यह 'रक्षा-बन्धन'॥

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 26 अगस्त, 1923। असंकलित कविताएँ में संकलित]

कृष्ण-महात्म !

गोरी बाँहन सों सदा, गोरी ब्रज-बनितान।
गले लगायो प्रेम से, श्याम कामतनु कान्ह॥
श्याम कामतनु कान्ह-रूप भौरे में पायो।
खिली कमलिनी हरषि अंक भरि उर बैठायो॥
पै अब ऐसो हाल कि 'काले' हाथ पसारे॥
धेला-भर भी प्रेम लेत 'गोरन' सों हारे॥

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 1 सितम्बर 1923। असंकलित कविताएँ में संकलित]

रक्षा-बन्धन (1)

परिमलयुत मृदु मन्द मलय बह गुंजत छन छन मत्त मधुप गन,
उठत बीन झंकार चतुर्दिसि चढ्यो मदन जनु करन कतहुँ रन।
घन-पिय-अधरन चूम चाँदनी, अलस चुवत तन सुधा-स्वेद-कन,
प्रकृति-पुरुष कर मिलन मनोहर अति सुखकर यह 'रक्षा-बन्धन'।।

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 26 अगस्त, 1923। असंकलित कविताएँ में संकलित]

कृष्ण-महातम!

गोरी बाँहन सों सदा, गोरी ब्रज-बनितान।
गले लगायो प्रेम से, स्याम कामतनु कान्ह।।
स्याम कामतनु कान्ह-रूप गोरे में पायो।
खिली कमलिनी हरषि अंक भरि उर बैठायो।।
पै अब ऐसो हाल कि 'काले' हाथ पसारे।।
धेला-भर भी प्रेम लेत 'गोरन' सों हारे।।

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 1 सितम्बर 1923। असंकलित कविताएँ में संकलित]

एक प्रशस्ति

नयनन उमड़ि आयो सिन्धु।
गगन जस-थल विमल-किरननि
घनि लख्यो नव इन्दु॥
वहि चली रसधार नव
मति - कुमुदिनी उघरी।
पाय कविता - दरस
परसत पग, परागन-भरी॥
दियो वर हँसि, बसि रही उर,
मधुर भो मो प्रान।
प्रात होइहि, करहु भारत-
भजन - गुन - गन - गान॥
लख्यों नरपति - विश्वनाथहि
द्वार स्मृति के खड़ो।
छत्रसाल - महीप - महिमा को
नवल रवि कढ़ो॥

[सम्भावित रचनाकाल : जनवरी, 1928। असंकलित]

कालेज का बचुआ

जब से एफ. ए. फेल हुआ,
हमारा कालेज का बचुआ।

नाक दाबकर सम्पुट साधै,
महादेवजी को आराधै,
भंग छानकर रोज़ रात को
खाना मालपुआ।

वाल्मीकि को बाबा मानै,
नाना व्यासदेव को जानै,
चाचा महिषासुर को, दुर्गा
जी को सगी बुआ।

हिन्दी का लिक्खाड़ बड़ा वह,
जब देखो तब अड़ा पड़ा वह,
छायावाद रहस्यवाद के
भावों का बटुआ।

धीरे-धीरे रगड़-रगड़ कर
श्रीगणेश से झगड़-झगड़ कर,
नत्थाराम बन गया है अब
पहले का नथुआ।

हमारे कालेज का बचुआ।

[सम्भावित रचनाकाल : 1928-29 ई.। असंकलित कविताएँ में संकलित]

निरालाजी का उत्तर

लखनऊ,
6 जनवरी, 1931

बन्धु हे—

भालोबासी, भालो बासियाछो,
नूतन किछुइ करो नाई;
अमी मने मने जपियाछी,
द्वारे तुमी आसियाछो ताई।
सहियाछी आमी जतो व्यथा
तोमाय बासिते गिया भालो,
तोमार हृदये उठियाछे
तेतोई होइया ताहा कालो।
आमी करि नाई कृपणता
तोमाय करिते सब दान
जानियाछी यदि ओ जीवने
मोर चेये तुमीइ महान।
तोमार नयने राखी आँखी
जीवनेर सुधा करि पान,

छाड़ाये सकल दिक-सीमा,
तोमाते मिलाये जाके प्राण।
पथ जाहा जानी आमी, बोली,
आगुन द्विगुणा मने जालो;
जतोइ जलिबे देह-मान
ततोइ पाइबे तुमी आलो।
गहिया उठिबे तव प्राण
प्रभातेर आलोकेर गान,
सकलेर जीवनेर धारा
तोमाते लभिबे अवगान।

बन्धु,
आमी एइ भाषाय प्रथम कविता लिखिय छिनाम
ताइ इहातेइ तोमार अभिनन्दन करिलाम।

तोमार—सूर्यकान्त

[रचनाकाल : 6 जनवरी, 1931 । 'हंस', मासिक, बनारस सिटी, जनवरी, 1931, मे प्रकाशित। गीत-गुंज (द्वितीय संस्करण) में संकलित]

गीत

किहि तन पिय-मन धारो ?—री कहु
उठत न दृग लखि, पग डगमग, सखि,
किमि निज सुगति सँवारों ?—री कहु

कौन पौन मे डसत विषयधर,
फैलति ज्वाल, होत तन जरजर,
सबद सुनत काँपत हिय थरथर,
किमि सर खर निरवारों ?—री कहु

['सुधा', मासिक, लखनऊ, नवम्बर, 1935। असंकलित कविताएँ मे संकलित]

दाल का गीत
[खास 'रूपाभ' के लिए प्रस्तुत]

तुम चूरी दालि महरानी!
हरदी परे ते जरदी आई,
निमक परे मुसुक्यानी,
भात - भतार ते भेंट भई,
तब प्रेम-सहित लिपट्यानी।

['चकल्लस', साप्ताहिक, लखनऊ, वर्ष 1, अंक 26 (जुलाई, 1938)। असंकलित]

अनूदित कविताएँ

तुम

दिया जीवन, तुम्हारा ही दिया यह दुःख दारुण दव,
दिया अन्तःकरण बैठे जहाँ करते तुम्हीं अनुभव।
तुम्हारे ही नयन ये हैं सलिल - सरिता बही जिनसे,
विकलता भी तुम्हारी है, तुम्हारा है करुण हा रव।
तुम्हारी दी हुई निधि वह, तुम्हारी ही ग्रहण-विधि वह,
तुम्हीं अनमन विजन वन में बहाते शान्ति शुचि सौरभ।
तुम्हारा मैं तुम्हारा तन, तुम्हारा ही विपुल धनजन,
समझकर भी न समझा मन, मिटाओ मोह - घन गौरव।

['समन्वय', मासिक, कलकत्ता, सौर चैत्र, संवत् 1980 वि. (मार्च-अप्रैल, 1923), (रजनी सेन के एक गीत का अनुवाद)। अणिमा में संकलित]

गाता हूँ गीत मैं तुम्हें ही सुनाने को

गाता हूँ गीत मैं तुम्हें ही सुनाने को;
भले और बुरे की,
लोकनिन्दा यश-कथा की
नहीं परवाह मुझे;
दास तुम दोनों का
सशक्तिक चरणों में प्रणाम है तुम्हारे देव !
पीछे खड़े रहते हो,
इसीलिए हास्य-मुख
देखता हूँ बार-बार मुड़-मुड़कर।

बार-बार गाता मैं
भय नहीं खाता कभी,
जन्म और मृत्यु मेरे पैर पर लोटते हैं।
दया के सागर हो तुम
दास जन्म-जन्म का तुम्हारा मैं हूँ प्रभो।
क्या गति तुम्हारी, नही जानता,
अपनी गति, यह भी नही,
कौन चाहता भी है जानने को ?
भुक्ति-मुक्ति-भक्ति आदि जितने हैं—
जप-तप-साधन-भजन
आज्ञा से तुम्हारी मैंने दूर इन्हें कर दिया।
एकमात्र आशा पहचान की ही है लगी,
इससे भी करो पार !
देखते हैं नेत्र ये सारा संसार,
नहीं देखते हैं अपने को,
देखें भी क्यों, कहो,
देखते वे अपना रूप
देख दूसरे का मुख।

नेत्र मेरे तुम्ही हो,
रूप तुम्हारा ही घट-घट में है विद्यमान।
बालकेलि करता हूँ तुम्हारे साथ,
क्रोध करके कभी,
तुमसे किनारा कर दूर चला जाता हूँ।
किन्तु निशाकाल में,
देखता हूँ,
शय्या-शिरोभाग मे खडे तुम चुपचाप,
छल-छल आँखें,
हेरते हो मेरे मुख की ओर एक-टक।
बदल जाता है भाव,
पैरों पड़ता हूँ।
किन्तु क्षमा नही माँगता,
नहीं करते हो रोष।
पुत्र हूँ तुम्हारा मैं,
ऐसी प्रगल्भता
और कोई कैसे, कहो, सहन कर सकता है ?

तुम मेरे प्रभु हो,
प्राण-सखा मेरे तुम
कभी देखता हूँ—
"तुम मैं हो, मैं तुम बना
वाणी तुम, वीणापाणि मेरे कण्ठ मे प्रभो,
ऊर्मि से तुम्हारी बह जाते हैं नर-नारी।"
सिन्धुनाद हुंकार,
सूर्य-चन्द्र मे वचन,
मन्द-मन्द पवन तुम्हारा आलाप है;
सत्य है यह सब कथा,
किन्तु अति स्थूल भाव मानता तथापि मैं-
तत्त्ववेत्ता का प्रसंग यह है नही।
चन्द्र-सूर्य-ग्रह-तारा,
कोटि-मण्डली-निवास,
धूमकेतु, विद्युतप्रकाश आदि जो कुछ यह
अन्तहीन महाकाश देखता है मेरा मन,
काम, क्रोध, लोभ, मोह—
उठती जहाँ से है तरंगों की लीला लोल;
विद्या, अविद्या का स्थान
जन्म-जरा जीवन-मरण सुख-दु.ख द्वन्द्व
केन्द्र जिसका अहम् है,
दोनों भुज—वहिरन्तर;
आसमुद्र-चन्द्रमा,
आतारक-सूर्याकाश,
मन-बुद्धि-चित्त, अहंकार, देव और यक्ष,
मानव-दानव-गण,
पशु-पक्षी-कृमि-कीट
अणुक-द्यणुक जड़-जीव आदि जितने हैं,
देखो, एक समक्षेत्र में हैं सब विद्यमान।

अति स्थूल—अति स्थूल बाह्य यह विकास है
केश जैसे सिर पर।
योजनों तक फैला हुआ
हिम से आच्छादित
मेरु-तट पर है महागिरि,
अभ्रभेदी वह श्रृंग

अभ्रहीन नभ में उठे,
दृष्टि झुलसाती हुई हिम की शिलाएँ वे,
विद्युत-विकास से है शतगुण प्रखर ज्योति;
उत्तर अयन मे उस
एकीभूत कर की सहस्र ज्योति-रेखाएँ
कोटि-वज्र-सम-खर-कर-धारा जब ढालती हैं,
एक-एक शृंग पर
मूर्च्छित हुए-से भुवन-भास्कर हैं दीखते,
गलता है हिम-शृंग
टपकता गुहा मे,
घोर नाद करता हुआ
टूट पड़ता है गिरि,
स्वप्न-सम जल-बिम्ब जल में मिल जाता है।
मन की सब वृत्तियाँ एक ही हो जाती जब
फैलता है कोटि-सूर्य-निन्दित सत्-चित्-प्रकाश,
गल जाते भानु, शशधर और तारादल,—
विश्व-व्योममण्डल-तलातल-पाताल भी,
ब्रह्माण्ड गोष्पद-समान जान पड़ता है
दूर जाता है जब मन बाह्यभूमि के,
होता है शान्त धातु,
निश्चल होता है सत्य,
तन्त्रियाँ हृदय की तब ढीली पड़ जाती हैं,
खुल जाते बन्धन-समूह, जाते माया-मोह,
गूँजता तुम्हारा अनाहत-नाद जो वहाँ,
सुनता है दास भक्तिपूर्वक नतमस्तक,
तत्पर सदा ही वह
पूर्ण करने को जो कुछ भी हो तुम्हारा कार्य।
"मैं ही तब विद्यमान,
प्रलय के समय मे जब
ज्ञान-ज्ञेय-ज्ञाता लय
होता है अगणन ब्रह्माण्ड ग्रास करके, यह
ध्वस्त होता ससार
पार कर जाता है तर्क की सीमा को,
नही रह जाता कुछ—सूर्य-चन्द्र-तारा-ग्रह—
महानिर्वाण वह,
नही रहते जब कर्म, करण या कारण कुछ,

घोर अन्धकार होता अन्धकार-हृदय में,
मैं ही तब विद्यमान।"

"प्रलय के समय में जब
ज्ञान-ज्ञेय-ज्ञाता-लय
होता है अगणन ब्रह्माण्ड ग्रास करके, यह
ध्वस्त होता संसार,
पार कर जाता है तर्क की सीमा को,
नहीं रह जाता कुछ—सूर्य-चन्द्र-तारा-ग्रह—
घोर अन्धकार होता अन्धकार-हृदय में,
दूर होते तीनों गुण,
अथवा वे मिल करके शान्त भाव धरते जब
एकाकार होते सूक्ष्म शुद्ध-परमाणु-काय,
मैं ही तब विद्यमान।"

'विकसित फिर होता मैं,
मेरी ही शक्ति धरती पहले विकार-रूप,
आदि वाणी प्रणव ओंकार ही
बजता महाशून्य-पथ में,
अन्तहीन महाकाश सुनता महानन्द-ध्वनि,
कारण-मण्डली की निद्रा छूट जाती है,
अगणित परमाणुओं में प्राण समा जाते है,
नर्तनावर्तोच्छ्वास
बड़ी दूर—दूर से
चलते केन्द्र की तरफ,
चेतन पवन है उठाती ऊर्मिमालाएँ
महाभूत-सिन्धु पर,
परमाणुओं के आवर्त घन विकास और
रंग-भंग-पतन-उच्छ्वास-संग
बहती बड़े वेग से हैं वे तरंगराजियाँ,
जिससे अनन्त—वे अनन्त खण्ड उठे हुए
घात-प्रतिघातों से शून्य पथ में दौड़ते—
बन-बन ख-मण्डल हैं तारा-ग्रह घूमते,
घूमती यह पृथ्वी भी, मनुष्यों की वास-भूमि।

"मैं ही हूँ आदि कवि,
मेरी ही शक्ति के रचना-कौशल में हैं
जड़ और जीव सारे
मैं ही खेलता हूँ शक्ति-रूपा निज माया से।
एक, होता अनेक, मैं
देखने के लिए सब अपने स्वरूपों को।
मेरी ही आज्ञा से
बहती इस वेग से है झञ्झा इस पृथ्वी पर
गरज उठता है मेघ—
अशनि में नाद होता,
मन्द-मन्द बहती वायु
मेरे निश्वास के ग्रहण और त्याग से,
हिमकर सुख-हिमकर की धारा जब बहती है,
तरु औ' लताएँ हैं ढकती धरा की देह,
शिशिर से धुले फुल्ल मुख को उठाकर वे
तकते रह जाते है
भास्कर को सुमन-वृन्द।"

['समन्वय', मासिक, कलकत्ता, सौरमाघ, संवत् 1980 वि. (जनवरी-फरवरी, 1924), (विवेकानन्द की रचना 'गाइ गीत शुनाते तोमाय' का अनुवाद)। द्वितीय अनामिका में संकलित]

तट पर

नव वसन्त करता था वन की सैर
जब किसी क्षीण-कटि तटिनी के तट
तरुणी ने रक्खे थे अपने पैर।
नहाने को सरि वह आयी थी,
साथ वसन्ती रँग की, चुनी हुई, साड़ी लायी थी।
काँप रही थी वायु, प्रीति की प्रथम रात की
नवागता, पर प्रियतम-कर-पतिता-सी
प्रेममयी, पर नीरव अपरिचिता-सी।
किरण-बालिकाएँ लहरों से
खेल रही थी अपने ही मन से, पहरों से।

खड़ी दूर सारस की सुन्दर जोडी,
क्या जाने क्या-क्या कहकर दोनों ने ग्रीवा मोडी।
रखी साड़ी शिला-खण्ड पर
ज्यों त्यागा कोई गौरव-वर।
देख चतुर्दिक, सरिता मे
उतरी तिर्यग्दृग, अविचल-चित।
नग्न बाहुओं से उछालती नीर,
तरंगों में डूबे दो कुमुदों पर
हँसता था एक कलाधर,*
ऋतुराज दूर से देख उसे होता था अधिक अधीर।
वियोग मे नदी-हृदय कम्पित कर,
तट पर सजल-चरण-रेखाएँ निज अंकित कर,
केश-भार जल-सिक्त चली वह धीरे-धीरे
शिला-खण्ड की ओर,
नव-वसन्त काँपा पत्रों मे,
देख दृगों की कोर।
अंग-अंग मे नव-यौवन उच्छृंखल,
किन्तु बँधा लावण्य-पाश से
नम्र सहास अचंचल।
झुकी हुई कल कुञ्चित एक अलक ललाट पर,
बढ़ी हुई ज्यों प्रिया स्नेह की खड़ी बाट पर।
वायु सेविका-सी आकर
पोंछे युगल उरोज, बाहु, मधुराधर।
तरुणी ने सब ओर
देख, मन्द हँस, छिपा लिये उन्नत पीन उरोज,
उठाकर शुष्क वसन का छोर।
मूर्च्छित वसन्त पत्रों पर;
तरु से वृन्तच्युत कुछ फूल
गिरे उस तरुणी के चरणों पर।

* भाव है—[दिन मे भी] दो कुमुदों (उरोजों) को देखकर चन्द्र (मुख) हँस रहा था।

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 2 फरवरी, 1924 (रवीन्द्रनाथ की रचना 'विजयिनी' पर आधारित)। द्वितीय अनामिका में संकलित]

समाधि

सूर्य भी नही है, ज्योति—सुन्दर शशांक नही,
छाया-सा व्योम मे वह विश्व नजर आता है।
मनोआकाश अस्फुट, भासमान विश्व वहाँ
अहंकार-स्रोत ही मे तिरता डूब जाता है।

धीरे-धीरे छायादल लय मे समाया जब
धारा निज अहंकार मन्दगति बहाता है।
बन्द वह धारा हुई, शून्य में मिला है शून्य,
'अवाङ्‌मनसोगोचरम्' वह जाने जो ज्ञाता है।

['समन्वय', मासिक, कलकत्ता, सौर फाल्गुन, संवत् 1980 वि. (फरवरी-मार्च, 1924), (विवेकानन्द की रचना 'प्रलय वा गभीर समाधि' का अनुवाद)। गीत-गुंज (द्वितीय संस्करण) के परिशिष्ट मे संकलित]

नाचे उस पर श्यामा

फूले फूल सुरभि-व्याकुल अलि
गूँज रहे हैं चारों ओर
जगती-तल में सकल देवता
भरते शशि-मृदु-हँसी-हिलोर।
गन्ध-मन्द-गति मलय पवन है
खोल रही स्मृतियों के द्वार,
ललित-तरंग नदी-नद-स[illegible]
चल-शतदल पर
दूर गुहा मे [illegible]
तान-तरंगों का
स्वरमय किसलय-[illegible]
के बजते सुहाग
तरुण [illegible] ण

धरा-अधर धारण करते है,—
रँग के रागों के आकार
देख-देख भावुक-जन-मन में
जगते कितने भाव उदार!

गरज रहे है मेघ, अशनि का
गूँजा घोर निनाद - प्रमाद,
स्वर्ग-धरा-व्यापी संगर का
छाया विकट - कटक - उन्माद
अन्धकार उद्‌गीरण करता
अन्धकार धन - घोर अपार
महाप्रलय की वायु सुनाती
श्वासो मे अगणित हुकार
इस पर चमक रही है रक्तिम
विद्युज्ज्वाला वारम्बार
फेनिल लहरें गरज चाहती
करना गिरि - शिखरों को पार,
भीम-घोप-गम्भीर, अतल धँस
टलमल करती धरा अधीर,
अनल निकलता छेद भूमितल,
चूर हो रहे अचल - शरीर।

है सुहावने मन्दिर कितने
नील-सलिल - सर - वीचि-विलास—
वलयित कुवलय, खेल खिलाती
मलय वनज - वन - यौवन-हास।
बढ़ा रहा है अंगूरों का
हृदय - रुधिर प्याले का प्यार,
फेन - शुभ्र - सिर उठे बुलबुले
मन्द - मन्द करते गुञ्जार।
बजती है श्रुति - पथ में वीणा,
तारों की कोमल झंकार
ताल - ताल पर चली बढ़ाती
ललित वासना का संसार।

भावों में क्या जाने कितना
व्रज का प्रकट प्रेम उच्छ्वास,
आँसू ढलते, विरह-ताप से
तप्त गोपिकाओं के श्वास;
नीरज-नील नयन, बिम्बाधर
जिस युवती के अति सुकुमार,
उमड़ रहा जिसकी आँखों पर
मृदु भावों का पारावार,
बढ़ा हाथ दोनों मिलने को
चलती प्रकट प्रेम-अभिसार,
प्राण-पखेरू, प्रेम-पींजरा,
बन्द, बन्द है उसका द्वार!

भेरी झररर-झरर, दमामे,
घोर नकारों की है चोप,
कड़-कड़-कड़ सन्-सन् बन्दूकें,
अररर अररर अररर तोप,
धूम-धूम है भीम रणस्थल,
शत-शत ज्वालामुखियाँ घोर
आग उगलती, दहक-दहक दह
कँपा रहीं भू-नभ के छोर।
फटते, लगते हैं छाती पर
घाती गोले सौ-सौ बार,
उड़ जाते हैं कितने हाथी,
कितने घोड़े और सवार।
थर-थर पृथ्वी थर्राती है,
लाखों घोड़े कस तैयार
करते, चढ़ते, बढ़ते-अड़ते
झुक पड़ते हैं वीर जुझार।
भेद धूम-तल—अनल, प्रबल दल
चीर गोलियों की बौछार,
धँस गोलों-ओलों में लाते
छीन तोप कर वेड़ी मार;
आगे-आगे फहराती है
ध्वजा वीरता की पहचान,

झरती धारा—रुधिर दण्ड में
अड़े पड़े पर वीर जवान
साथ-साथ पैदल-दल चलता
रण-मद-मतवाले सब वीर
छुटी पताका, गिरा वीर जब
लेता पकड़ अपर रणधीर
पटे खेत अगणित लाशों से
कटे हजारों वीर जवान
डटे लाश पर पैर जमाये
हटे न वीर छोड़ मैदान

देह चाहता है सुख-संगम
चित्त-विहंगम स्वर-मधु-धार
हँसी-हिंडोला झूल चाहता
मन जाना दुख-सागर-पार
हिम-शशांक का किरण-अग-सुख
कहो, कौन जो देगा छोड़
तपन-तप्त मध्याह्न-प्रखरता
से नाता जो लेगा जोड़
चण्ड दिवाकर ही तो भरता
शशधर में कर-कोमल-प्राण,
किन्तु कलाधर को ही देता
सारा विश्व प्रेम - सम्मान!
सुख के हेतु सभी हैं पागल,
दुख से किस पामर का प्यार?
सुख में है दुख, गरल अमृत में,
देखो, बता रहा संसार।
सुख-दुख का यह निरा हलाहल
भरा कण्ठ तक सदा अधीर,
रोते मानव, पर आशा का
नहीं छोड़ते चञ्चल चीर!
रुद्र रूप से सब डरते हैं,
देख-देख भरते हैं आह,
मृत्युरूपिणी मुक्तकुन्तला
माँ की नहीं किसी को चाह!

उष्णधार उद्‌गार रुधिर का
करती है जो बारम्बार,
भीम भुजा की, बीन छीनती,
वह जंगी नंगी तलवार।
मृत्यु स्वरूपे माँ, है तू ही
सत्य - स्वरूपा, सत्याधार;
काली, सुखवनमाली तेरी
माया छाया का संसार!

अये—कालिके, माँ करालिके,
शीघ्र मर्म का कर उच्छेद,
इस शरीर का प्रेम-भाव, यह
सुख सपना, माया, कर भेद!
तुझे मुण्डमाला पहनाते,
फिर भय खाते तकते लोग,
'दयामयी' कह कह चिल्लाते,
माँ, दुनिया का देखा ढोंग!
प्राण काँपते अट्‌टहास सुन
दिगम्बरा का लख उल्लास,
अरे भयातुर 'असुर-विजयिनी'
कह रह जाता, खाता त्रास!
मुँह से कहता है,—देखेगा
पर माँ, जब आता है काल,
कहाँ भाग जाता भय खाकर
तेरा देख वदन विकराल!
माँ, तू मृत्यु घूमती रहती,
उत्कट व्याधि, रोग बलवान्,
भर विष-घड़े, पिलाती है तू
घूंट जहर के लेती प्राण।
रे उन्माद! भुलाता है तू
अपने को, न फिराता दृष्टि
पीछे भय से, कहीं देख तू
भीमा महाप्रलय की सृष्टि।
दुख चाहता, बता, इसमें क्या
भरी नहीं है सुख की प्यास?

तेरी भक्ति और पूजा में
चलती स्वार्थ-सिद्धि की साँस।
छाग-कण्ठ की रुधिर धार से
सहम रहा तू, भय-सञ्चार!
अरे कापुरुष, बना दया का
तू आधार!—धन्य व्यवहार!

फोड़ो वीणा, प्रेम - सुधा का
पीना छोड़ो, तोड़ो, वीर,
दृढ़ आकर्षण है जिसमें उस
नारी - माया की जञ्जीर।
बढ़ जाओ तुम जलधि-ऊर्मि-से
गरज गरज गाओ निज गान;
आँसू पीकर जीना, जाये
देह, हथेली पर लो जान।
जागो वीर! सदा ही सिर पर
काट रहा है चक्कर काल,
छोड़ो अपने सपने, भय क्यों,
काटो, काटो यह भ्रम जाल।
दुःख-भार इस भव के ईश्वर,
जिनके मन्दिर का दृढ़ द्वार!
जलती हुई चिताओं मे है
प्रेत - पिशाचो का आगार;
सदा घोर संग्राम छेड़ना
उनकी पूजा के उपचार,
वीर! डराये कभी न, आये
अगर पराजय सौ - सौ बार।
चूर-चूर हो स्वार्थ, साध, सब
मान, हृदय हो महाश्मशान,
नाचे उस पर श्यामा, घन रण
में लेकर निज भीम कृपाण।

[अनुवाद-काल : 13 अप्रैल, 1924। 'समन्वय', मासिक, कलकत्ता, सौर आषाढ़, संवत् 1981 वि. (जून-जुलाई, 1924), में प्रकाशित (विवेकानन्द की रचना 'नाचुक ताहाते श्यामा' का अनुवाद)। द्वितीय अनामिका में संकलित]

[1]

ज्येष्ठ ! क्रूरता-कर्कशता के ज्येष्ठ ! सृष्टि के आदि !
वर्ष के उज्ज्वल प्रथम प्रकाश।
अन्त ! सृष्टि के जीवन के हे अन्त ! विश्व के व्याधि !
चराचर के हे निर्दय त्रास !
सृष्टि-भर के व्याकुल आह्वान !—अचल विश्वास !
सृष्टि-भर के शंकित अवसान !—दीर्घ निश्वास !
देते हैं हम तुम्हें प्रेम - आमन्त्रण,
आओ जीवन-शमन, बन्धु, जीवन-धन !

[2]

घोर-जटा-पिंगल मंगलमय देव ! योगि - जन-सिद्ध !
धूलि - धूसरित, सदा निष्काम !
उग्र ! लपट यह लू की है या शूल—करोगे विद्ध
उसे जो करता हो आराम !
बताओ, यह भी कोई रीति ? छोड़ घर - द्वार,
जगाते हो लोगों में भीति,—तीव्र संस्कार !—
या निष्ठुर पीड़न से तुम नव जीवन
भर देते हो, बरसाते हैं तब घन !

[3]

तेज:पुञ्ज ! तपस्या की यह ज्योति—प्रलय साकार;
उगलते आग धरा - आकाश;
पड़ा चिता पर जलता मृत गत वर्ष प्रसिद्ध असार,
'प्रकृति होती है देख निराश !
सुरधुनी में रोदन - ध्वनि दीन,—विकल उच्छ्वास,
दिग्वधू की पिक - वाणी क्षीण—दिगन्त उदास;
देखा जहाँ वहीं है ज्योति तुम्हारी,
सिद्ध ! काँपती है यह माया सारी।

[4]

शाम हो गयी, फैलाओ वह पीत गेरुआ वस्त्र,
रजोगुण का वह अनुपम राग,
कर्मयोग का विमल पताका और मोह का अस्त्र,
सत्य जीवन के फल का—त्याग।

मृत्यु में तृष्णा में अभिराम एक उपदेश,
कर्ममय, जटिल, तृप्त, निष्काम; देव, निर्दोष !
तुम हो वज्र-कठोर किन्तु देवव्रत,
होता है संसार अतः मस्तक-नत ।

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 19 अप्रैल, 1924 (रवीन्द्रनाथ की रचना 'वैशाख' पर आधारित)। द्वितीय अनामिका में संकलित]

कहाँ देश है

[1]

'अभी और है कितनी दूर तुम्हारा प्यारा देश ?'—
कभी पूछता हूँ तो तुम हँसती हो
प्रिय, सँभालती हुई कपोलों पर के कुञ्चित केश !
मुझे चढ़ाया बाँह पकड़ अपनी सुन्दर नौका पर,
फिर समझ न पाया, मधुर सुनाया कैसा वह संगीत
सहज-कमनीय-कण्ठ से गाकर !
मिलन-मुखर उस सोने के संगीत-राज्य में
मैं विहार करता था,
मेरा जीवन-श्रम हरता था;
मीठी थपकी क्षुब्ध हृदय में तान-तरंग लगाती
मुझे गोद पर ललित कल्पना की वह कभी सुलाती,
कभी जगाती;
जगकर पूछा, 'कहो कहाँ मैं आया ?'
हँसते हुए दूसरा ही गाना तब तुमने गाया !
भला बताओ, क्यों केवल हँसती हो ?—
क्यों गाती हो ?
धीरे-धीरे किस विदेश की ओर लिये जाती हो ?

[2]

झाँका खिड़की खोल तुम्हारी छोटी-सी नौका पर
व्याकुल थीं निस्सीम सिन्धु की ताल तरङ्गें
गीत तुम्हारा सुनकर;

विकल हृदय यह हुआ और जब पूछा मैंने
पकड़ तुम्हारे स्रस्त वस्त्र का छोर,
मौन इशारा किया उठाकर उँगली तुमने
धँसते पश्चिम सान्ध्य गगन मे पीत तपन की ओर।

क्या वही तुम्हारा देश
ऊर्मि-मुखर इस सागर के उस पार—
कनक-किरण से छाया अस्ताचल का पश्चिम द्वार?
बताओ—वही?—जहाँ सागर के उस श्मशान में
आदिकाल से लेकर प्रतिदिवसावसान में
जलती प्रखर दिवाकर की वह एक चिता है,
और उधर फिर क्या है?

झुलसाता जल तरल अनल,
गलकर गिरता-सा अम्बरतल,
है प्लावित कर जग को असीम रोदन लहराता;
खड़ी दिग्वधू, नयनो मे दुख की है गाथा;
प्रबल वायु भरती है एक अधीर श्वास,
है करता अनय प्रलय का-सा भर जलोच्छ्वास,
यह चारों ओर घोर संशयमय क्या होता है?
क्यो सारा संसार आज इतना रोता है?
जहाँ हो गया इस रोदन का शेष,
क्यों सखि, क्या है वही तुम्हारा देश?

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 3 मई, 1924 ('क्यो हँसती हो? कहाँ देश है?' शीर्षक से) (*रवीन्द्रनाथ की रचना 'निरुद्देश्य यात्रा' का अनुवाद*)। द्वितीय **अनामिका** में संकलित]

क्षमा प्रार्थना

आज बह गयी मेरी वह व्याकुल संगीत-हिलोर
किस दिगन्त की ओर?
शिथिल हो गयी वेणी मेरी,
शिथिल आज की ग्रन्थि,
शिथिल है आज बाहु-दृढ-बन्धन,
शिथिल हो गया है वह मेरा चुम्बन!
शिथिल सुमन-सा पड़ा सेज पर अञ्चल,
शिथिल हो गयी है वह चितवन चञ्चल!

शिथिल आज है कल का कूजन—
पिक की पञ्चम तान,
शिथिल आज वह मेरा आदर—
मेरा वह अभिमान !

यौवन-वन-अभिसार-निशा का यह कैसा अवसान ?
सुख-दुख की धाराओं में कल
बहने की थी अटल प्रतिज्ञा —
कितना दृढ़ विश्वास,
और आज कितनी दुर्बल हूँ—
लेती ठण्ढी साँस !

प्रिय अभिनव !
मेरे अन्तर के मृदु अनुभव !
इतना तो कह दो—
मिटी तुम्हारे इस जीवन की प्यास ?
और हाँ, यह भी, जीवन-नाथ ! —
मेरी रजनी थी यदि तुमको प्यारी,
तो प्यारा क्या होगा यह अलस प्रभात ?
वर्षा, शरत्, वसन्त, शिशिर, ऋतु शीत,
पार किये तुमने सुन-सुनकर मेरे जो संगीत,
घोर ग्रीष्म में वैसा ही मन
लगा, सुनोगे क्या मेरे वे गीत—
कहो, जीवन-धन !

माला में ही सूख गये जो फूल
क्या न पड़ेगी उन पर, प्रियतम,
एक दृष्टि अनुकूल !
ताक रहे हो दृष्टि,
जाँच रहे हो या मन ?—
क्षमा कर रहे हो अथवा तुम देव,
अपने जन के स्खलन और सब पतन ?

बाँधे थे तुमने जिस स्वर में तार,
उतर गये उससे वे बारम्बार !
दुर्बल मेरे प्राण
कहो भला फिर
कैसे गाते रचे तुम्हारे गान ?

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 17 मई, 1924। 'महाकवि श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर के भावों में' इस सूचना के साथ द्वितीय अनामिका में संकलित।]

रोग स्वास्थ्य मे, सुख में दुख, है अन्धकार में जहाँ प्रकाश,
शिशु के प्राणों का साक्षी है रोदन जहाँ वहाँ क्या आश
सुख की करते हो तुम, मतिमन् ?—छिड़ा हुआ है रण अविराम
घोर द्वन्द्व का; यहाँ पुत्र को पिता भी नहीं देता स्थान।

गूँज रहा रव घोर स्वार्थ का, यहाँ शान्ति का मुक्ताकार
कहाँ ? नरक प्रत्यक्ष स्वर्ग है; कौन छोड़ सकता संसार ?
कर्म-पाश से बँधा गला, वह क्रीतदास जाये किस ठौर ?
सोचा समझा है मैंने, पर एक उपाय न देखा और।

योग-भोग, जप-तप, धन-सञ्चय, गार्हस्थ्याश्रम, दृढ़ संन्यास,
त्याग-तपस्या-व्रत सब देखा, पाया है जो मर्माभास
मैंने, समझा, कही नही सुख, है यह तनु-धारण ही व्यर्थ,
उतना ही दुख है जितना ही ऊँचा है तव हृदय समर्थ।

हे सहृदय, निस्वार्थ प्रेम के ! नही तुम्हारा जग में स्थान,
लौह-पिण्ड जो चोटें सहता, मर्मर के अति-कोमल प्राण
उन चोटो को सह सकते क्या ? होओ जड़वत् नीचाधार,
मधु-मुख, गरल-हृदय, निजता-रत, मिथ्या पर, देगा संसार

जगह तुम्हें तब। विद्यार्जन के लिए प्राण-पण से अतिपात
अर्द्ध आयु का किया, फिरा फिर पागल-सा फैलाये हाथ
प्राण-रहित छाया के पीछे लुब्ध प्रेम का, विविध निषेध—
विधियाँ की हैं धर्म-प्राप्ति को, गङ्गा-तट, श्मशान, गत-खेद,

नदी-तीर, पर्वत-गह्वर फिर; भिक्षाटन मे समय अपार
पार किया असहाय, छिन्न कौपीन जीर्ण अम्बर तनु धार
द्वार-द्वार फिर, उदर-पूर्ति कर, भग्न-शरीर तपस्या-भार-
धारण से, पर अर्जित क्या पाया है मैंने अन्तर - सार ?

सुनो, सत्य जो जीवन में मैंने समझा है—यह संसार
घोर तरङ्गाघात क्षुब्ध है—एक नाव जो करती पार—
तन्त्र, मन्त्र, नियमन प्राणों का, मत अनेक, दर्शन-विज्ञान,
त्याग-भोग, भ्रम घोर बुद्ध का; 'प्रेम-प्रेम' धन लो पहचान।

जीव-ब्रह्म, नर - निर्जर - ईश्वर - प्रेत - पिशाच - भूत - बैताल—
पशु - पक्षी - कीटाणुकीट में यही प्रेम अन्तर - तम - ज्वाल।
देव, देव! वह और कौन है, कहो चलाता सबको कौन?
—माँ को पुत्र के लिए देता प्राण,—दस्यु हरता है, मौन

प्रेरण एक प्रेम का ही। वे हैं मन-वाणी से अज्ञात—
वे ही सुख-दुख में रहती हैं—शक्ति मृत्यु-रूपा अवदात,
मातृभाव से वे ही आती। रोग, शोक, दारिद्र्य कठोर,
धर्म-अधर्म शुभाशुभ मे है पूजा उनकी ही सब ओर,

बहु भावों से, कहो और क्या कर सकता है जीव विधान?
भ्रम में ही है वह सुख की आकांक्षा मे हैं डूबे प्राण
जिसके, वैसे दुख की रखता है जो चाह—घोर उन्माद!—
मृत्यु चाहता है—पागल है वह भी, वृथा अमरतावाद!

जितनी दूर, दूर चाहे जितना जाओ चढ़कर रथ पर
तीव्र बुद्धि के, वहाँ-वहाँ तक फैला यही जलधि दुस्तर
संसृति का, सुख दुःख - तरङ्गावर्त - घूर्ण्य, कम्पित, चञ्चल,
पङ्ख - विहीन हो रहे हो तुम, सुनो यहाँ के विहग सकल!

नहीं कहीं उड़ने का पथ है, कहाँ भाग जाओगे तुम?
बार-बार आघात पा रहे—व्यर्थ कर रहे हो उद्यम!
छोड़ो विद्या जप-तप का बल; स्वार्थ-विहीन प्रेम आधार
एक हृदय का, देखो, शिक्षा देता है पतङ्ग कर प्यार।

अग्नि-शिखा को आलिङ्गन कर, रूप-मुग्ध वह कीट अधम
अन्ध; और तुम मत्त प्रेम के, हृदय तुम्हारा उज्ज्वलतम।
प्रेमवन्त! सब स्वार्थ-मलिनता अनल-कुण्ड में भस्मीकृत
कर दो, सोचो, भिक्षुक-हृदय सदा का ही है सुख - वर्जित।

और कृपा के पात्र हुए भी तो क्या फल, तुम बारम्बार
सोचो, दो, न फेर कर लो यदि हो अन्तर में कुछ भी प्यार।
अन्तस्तल के अधिकारी तुम, सिन्धु प्रेम का भरा अपार
अन्तर मे, दो जो चाहे, हो बिन्दु सिन्धु उसका निःसार।

ब्रह्म और परमाणु-कीट तक, सब भूतों का है आधार
एक प्रेममय, प्रिय, इन सबके चरणों में दो तन-मन वार!
बहु रूपों से खड़े तुम्हारे आगे, और कहाँ है ईश?
व्यर्थ खोज। यह जीव-प्रेम की ही सेवा पाते जगदीश।

[अनुवाद-काल : 7 अप्रैल, 1926। 'समन्वय', मासिक, कलकत्ता, सौर चैत्र, संवत् 1983 वि. (मार्च-अप्रैल, 1926) में प्रकाशित (विवेकानन्द की रचना 'सखार प्रति' का अनुवाद)। द्वितीय अनामिका में संकलित]

पद-1 (क)

स्याम नाम किन आनि सुनायो,
पल छिन कल न परत मोहिं आली।
स्रवनन मगु धँसिगो, बसिगो उर,
विकल कियो मो मन वनमाली।।
स्रवत सुधा, लवलीन मीन सम,
नाम नीर नहिं त्यागन चाहौ।
जपत बिवस भो मो तन-मन धनि
पावन-हित चित सों अवगाहौं।।
नाम-प्रतापहिं यह गति भइ जब
अंग-परस-रस धौं किमि होई।
बसत जहाँ वह लखि नयनन सों
निजकुल-धरम जुवति किमि गोई।।
भूलन चाहौ भूलि सको नहिं
अब कहु कौन उपाव रह्यो री।
चण्डिदास वारी कुलवारी
तन-जोबन वनवारि लह्यो री।।

[सम्भावित अनुवाद-काल : जनवरी, 1928 (चण्डिदास के एक पद का अनुवाद)। असंकलित]

पद-1 (ख)

सुनायो किन सखि री हरिनाम ?
(सुनायो किन सखि श्याम-सु-नाम ?)
स्रवनन भीतर ह्वै आयो उर,
विकल कियो मम प्रान।
केतो मधुरी स्याम-नाम मैं
मुख सों छूटत नाहिं।
जपतहिं जपत अवस करि दै तन
पावौं किमि सखि वाहि।
नाम प्रतापहिं यह गति यह री
अंग परस किमि होय।
रहत जहाँ वह सखि नयनन सो
जुवति धरम किमि गोइ।
भूलौं सोचति, भूलि सकौं नहिं,
अब कहु, कौन उपाव।
चण्डिदास कुलवारिन कुल तजि
जोबन आन लहाव।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, अप्रैल, 1928 ('कविवर श्री चण्डिदास' शीर्षक निबन्ध में उद्धृत)। पद 1 (क) के अनुवाद का दूसरा रूप। असंकलित]

कवि गोविन्ददास की कुछ कविता

"दुलकै दुति चम्पक अंगन सों
अवनी यहि लावनी भाय रही;
अधरान के हास-तरंगन सो
छवि मारहू की मुरझाय रही।
नगि पेगल नागर जा छिन मैं
गरि प्रेम की बाँध बहाय रही;
हरि ने हरि लीनो हमारो हियो
बिकनाई बलाई न लाय रही।

गल झूलति मालती-माल परी
हिय-डोरन, डोरन भावत री;
उड़ि लाख अलीन के वृन्द अली
लवलीन प्रसूनन धावत री।
हँसि हेरि मरोरत अंग अनंग-
तरंगनि रंग दिखावत री;
धनु-भौंहन तान सरान नयानन
वेधत प्रानन आवत री।"
(अनुवाद, गोविन्ददास)

भक्त-शिरोमणि कविवर श्रीगोविन्ददास का बंगला-साहित्य में बहुत ऊँचा स्थान है। इधर उनकी सरस पदावली के पाठ से कुछ ऐसी भावना उत्पन्न हो गयी, जिसने बलात् मेरे द्वारा उनकी पदावली का हिन्दी-रूपान्तर करा लिया। रूपान्तर में मैंने इच्छानुसार, व्रजभाषा, अवधी, भोजपुरी, मैथिली आदि का मिश्रण कर दिया है। प्रधानता व्रजभाषा और अवधी की ही है। अधिकांश स्थलों में गोविन्ददास की ही अनुकूलता की गयी है। पदों की स्वर-विस्तृति उतनी ही रक्खी गयी है, जितनी गोविन्ददास ने अपने पदों में रक्खी है। इनकी बंगला में व्रजभाषा का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा है, और रचना में इन्होंने कविशेखर श्रीविद्यापति के अनुकरण की चेष्टा की है। पदों की गति-रीति आदि उसी तरह की है। अनुवाद में जहाँ आवश्यकता नहीं देखी गयी, वहाँ पूर्व रूप ही रहने दिया गया है। पाठकों के मनोविनोदार्थ कुछ नमूने दिये जाते हैं—

[1]

सुरत-पियास धर्यो पिय पानि;
करन निवारइ तरल-नयानि।
हठ-परिरम्भन परसित गात;
'नहि-नहि' कहइ हिलावइ माथ।
अभिनव मदन-तरंगिनि राधा;
स्याम सुरंग अवगाहि अगाधा।
चूमत सकुचत लोचन हार;
पियत अधर धनि कर सितकार।
नरार-पसर धनि चौंकि निहार;
दंशत दमकि मोरि तनु हार।
कहनहिं कह गदगद पद आध;
आन मनहिं मनसिज-उनमाद।

[2]

सजल जलद - दुति अंग मनोहर,
छटनि विलोकति नाहहिं गोरी;
ईषत् हँसि, मन सो बिनती करि,
कहि नयननि अरुनाई झोरी।
आजु लख्यो नागर नव नटवर
केलि-कदम्ब - मूल अभिलाषै;
निरखत रूप लाज नयनन की
वहि आनँद-जल सों छवि भाषै।
बौर माल सों बार सँवारति
कवरी जनु सिखि - पुच्छऽनुफन्दी;
रंगिनि नयननि विषम फूंद गुहि
किय चह जनु पिय खंजन बन्दी।

[3]

सुन्दरि, तुँ बड़ि हृदय पषान;
तुअ लगि मदन - सरानल - पीड़ित
जीवित ससय कान्ह।
बैठि विटप तर पंथ निहारै,
नयनन वह घन लोर;
'राधा-राधा' सघन जपै हरि,
मेंटत तरुन अघोर।
सखि री, समुझि रूप तुअ कान्ह;
मलयानिल - सीतल - नलिनी - दल
लहि लेपैं निज अंग;
चौंकि - चौंकि हरि उठत बेर बहु
घेरत मदन - तरंग।

[4]

सौरभ - आगरि राधा - नागरि
कनक-लता-सम-साज;
हरिचन्दन बलि, अंक रह्यो धरि
कुंज-भुजंगम-राज।
अब का करब उपाव?
काल - भुजंग अंक छोड़ै किमि
मुगुधिनि जुगुति न पाव।

गल झूलति मालती-माल परी
हिय-डोरन, डोरन भावत री;
उड़ि लाख अलीन के धुन्द अली
नवलीन प्रसूनन धावत री।
हँसि हेरि मरोरत अंग अनंग-
तरंगनि रंग दिखावत री;
धनु-भौंहन तान सरान नयानन
वेधत प्रानन आवत री।"
(अनुवाद, गोविन्ददास)

भक्त-शिरोमणि कविवर श्रीगोविन्ददास का बंगला-साहित्य में बहुत ऊँचा स्थान है। इधर उनकी सरस पदावली के पाठ से कुछ ऐसी भावना उत्पन्न हो गयी, जिसने बलात् मेरे द्वारा उनकी पदावली का हिन्दी-रूपान्तर करा लिया। रूपान्तर मे मैंने इच्छानुसार, व्रजभाषा, अवधी, भोजपुरी, मैथिली आदि का मिश्रण कर दिया है। प्रधानता व्रजभाषा और अवधी की ही है। अधिकांश स्थलों मे गोविन्ददास की ही अनुकूलता की गयी है। पदों की स्वर-विस्तृति उतनी ही रखी गयी है, जितनी गोविन्ददास ने अपने पदों मे रखी है। इनकी बंगला में व्रजभाषा का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा है, और रचना मे इन्होने कविशेखर श्रीविद्यापति के अनुकरण की चेष्टा की है। पदों की गति-रीति आदि उसी तरह की है। अनुवाद मे जहाँ आवश्यकता नही देखी गयी, वहाँ पूर्व रूप ही रहने दिया गया है। पाठकों के मनोविनोदार्थ कुछ नमूने दिये जाते हैं—

[1]

सुरत - पियास धर्‌यो पिय पानि;
करन निवारइ तरल - नयानि।
हठ - परिरम्भन परसित गात;
'नहिं-नहिं' कहइ हिलावइ माथ।
अभिनव मदन - तरंगिनि राधा;
स्याम सुरंग अवगाहि अगाधा।
चूमत सकुचत लोचन हार;
पियत अधर धनि कर सितकार।
नखर-पखर धनि चौंकि निहार;
दंसत दमकि मोरि तनु हार।
कहतहिं कह गदगद पद आध;
आन मनहिं मनसिज - उनमाद।

[2]

सजल जलद-दुति अंग मनोहर,
छटनि विलोकति नाहहिं गोरी;
ईषत् हँसि, मन सों विनती करि,
कहि नयननि अरुनाई झोरी।
आजु लख्यो नागर नव नटवर
केलि-कदम्ब - मूल अभिलाषै;
निरखत रूप लाज नयनन की
वहि आनँद-जल सो छवि भाषै।
बौर माल सों बार सँवारति
कवरी जनु सिखि - पुच्छऽनुफन्दी;
रंगिनि नयननि विषम फूँद गुहि
किय चह जनु पिय खंजन बन्दी।

[3]

सुन्दरि, तूँ बड़ि हृदय पपान;
तुअ लगि मदन - सरानल - पीड़ित
जीवित संसय कान्ह।
बैठि विटप तर पंथ निहारै,
नयनन वह घन लोर;
'राधा-राधा' सघन जपै हरि,
मेंटत तरुन अथोर।
सखि री, समुझि रूप तुअ कान्ह;
मलयानिल - सीतल - नलिनी - दल
लहि लेपै निज अंग;
चौंकि - चौंकि हरि उठत बेर बहु
घेरत मदन - तरंग।

[4]

सौरभ - आगरि राधा - नागरि
कनक-लता-सम-साज;
हरिचन्दन बलि, अंक रह्यो धरि
कुंज-भुजंगम-राज।
अब का करब उपाव?
काल - भुजंग अंक छोड़ै किमि
मुगुधिनि जुगुति न पाव।

चन्द्रक चारु - कनागन - मण्डित
तिहि विषमायन दीठ;
राधा - लुबुध - अधर अनुमानत
दशन - दंश वह मीठ।
इक सन्देह सीत के भीतहिं
पुलकन काँप किसोरि;
गोविंददास मिली सब सखियन
बूझति भाव निचोरि।

[5]

दूरहिं सों अपरूप रूप लखि
लोचन, मन, दुहुँ धाव;
परसन लागि जागि रह अन्तर
जीवन रहइ कि जाव।
माधव, तू राधा - मन - संगी;
प्रेम - ज्वाल पैठी राधा धनि
तनु जनु दहै पतंगी।
कहतहिं कहि न सकै कछु मोहन,
कौन विसूरइ बाला।
अनुछिन धरनि - सयन का मेटइ
सुनतु अनतु - सर - ज्वाला।
जमुना - कूल - कदम्ब - काननि
नयनन मोचइ बारी।
गोविंददास कहै अब माधव
कैसे जिय वर नारी।

[6]

माधव, धीरज ना करु गवनहिं;
तुअ बिरहानल अन्तर जरजर
मानस मिलिहै समनहिं।
धूलि-धूसरित धीर न धरु धनि
धरनी सूतल मरमहिं;
कवरीभार मुक्त, हारावलि
त्याग्यो सो असु - धरमहिं।

बिगलित अम्बर, सक सँभार नहिं,
बहति सुरसरी नयननि;
कमलज कमलनि कमलज झंप्यो
सोह नयन - वर - अयननि।
धरनीतल धनि मुरछि परी मनि
प्रान प्रबोध न मानै;
जानै और होय का वा पर
गोबिददास
बखानै।

[7]

निरमल बदन, कमल-वर-माधुरि,
लखत भयो सखि भोर;
अलखहि रंगिनि, भौंह-भुजंगिनि,
मरमहिं दसल मोर।
राधहिं जब हरि देखा;
मदन-महोदधि - निमगन मो मन
आकुल कूल न पेखा।
बंकिम हास, तिरीछे नयननि
मो पर दीठि दयो री!
किय अनुरागिनि, कियो बिरागिनि
ससय समुक्षत गोरी।
मरम-बिथा सखि, मरमहि जानत,
सरल हृदय तिहि हेर्‌यो;
दास गुबिन्द नितहिं नव-नव रस
रसवति राधहिं गेर्‌यो।

[8]

रतन-मंजरी लावनि सागर
अधरन बाँधलि रंग;
दसनन किरन दामिनी दमकत
हँसतहि अमिय-तरंग।
सजनी, राधहिं देख्यो वाट;
लखि मोहिं सुन्दरि, भइ भ्रम-चचल,
चौंकि चितै चलि जात।

पद दुइ - नारि चलै वर - नागरि
रहित निमिष कर जोरि;
कुटिल कटाक्ष मदन-बिसिरानि धनि
मो सरवस लिये छोरि।
मो मन जस गुन सुधि मति साधहिं
लेइ चली अब बाला;
गोविंददास कहइ माधव सुन
जपतहि तुअ गुन-माला।

[9]

कंचन - कमलहिं पवन पलोट्यो
अइस बदन संचारि;
सरबस लेइ पलटि पुनि बाँध्यो
रंगिनि पंक निहारि।
हरि-हरि को दै दारुन बाधा;
नयनन साध न आधहु पूर्यो
फेरि न हेर्यो राधा।
धन-घन-आँचल, कुच कनकाचल,
ढाँपइ पुनि - पुनि हेरि;
जनु मो मन हरि कनक-कुम्भ भरि
मुहर करइ बहु बेरि।
जब बाँध्यो मन, सब इन्द्रियगन
सून मिल्यो तिहि आन;
हरि-मूरति सखि इमि मुरझाई
गोविंददास प्रमान।

[10]

सखियन संग चली वर रंगिनि
यमुना करन सिनान;
कनक-सिरीस-कुसुम-जित-तनु, कुच
तिहि रवि - किरन - मिलान।
सजनी सो धनि मो चितचोर;
चोरिक पंथ मोहिं दरसायसि
चंचल नयनन कोर।
कोमल चरन, चलति गति मंथर,

उतपत बालुक वेल;
हेरत धनि, मो सजल दीठि, तुअ
जुग चरनन भरि नेल।
मन-चित जुगुल चुरायलि तू सखि,
सून हृदय अब मान;
मनमथ - पाप - दहन तन जारत,
गोबिंद यह बल जान।

[11]

आध - आध - अगनि मिल्यो, सखि जब राधा कान्ह;
अर्द्ध भाल ससि देखिए, अर्द्ध भाल छबि भान।
अर्द्ध गले कुंजर - सिरन, मुक्ता आधहिं माल;
अर्द्ध गौर तन देखिए, आधो स्याम बिसाल।
पीताम्बर आधे तनुहिं, आधे नील निचोल;
आधे भुज बाला लसत, आधे चुरियन-बोल
आधे अंगन हिलि रह्यो, आधे घेर्‌यो बाहु;
दास गुबिंद बखानिए, ग्रस्यो चन्द जनु राहु।

[12]

लखु सखि, राधा - माधव संग;
दुहुँ मिलत आनन्द बढो बहु,
दुहु मन चढो अनग।
दुहुँ कर परसत, पुलक दुहुँ तन,
दोउन अधफुट बोल;
नील मनिहि कंचन भेट्यो जनु,
तोलत लोचन मोल।
किंकिनि-नूपुर-बलय-विभूपन
मंजीरन करु रोर;
अबस भयो आवेस लहत तन
दुहुँ घन - दामिनि - जोर।
चूमत सघन देखि दोऊ मुख,
मन्द मधुर मृदु हास;
स्याम-तमालहिं कनक-लता गिरि
देखत गोबिंददास।

[13]

दोउ मुख निरखि बिहँसि दोउ लोचन,
सावन बरखत नीर;
व्याकुल हिय, हिय दोऊ लावत,
दोउ जनु एक सरीर।
सजनि न बूझे मरमक भाव;
द्वउ-द्वउ सरबस, रस-भर परबस
नीरस किय परभाव।
द्वउकर-कमल चिबुक द्वउ परसहि
कहत न आवइ बात;
दारिद रतन जतन जनु संवरु,
सतत लाव उर हाथ।
कर-कमलनि द्वउ परसि द्वउन पद,
बरखि अमिय, करु आस;
कबहूँ दूर-दूर अनुमानइ,
उनमत चित अभिलाष।
दरसन सरस परस द्वउ मानहि,
द्वउ रस-सागर-भान;
बारहिंबार करत अवगाहन
बूझत आपन ज्ञान।
दुहुँक बिलास-कला-रस हेरत
मदन तजइ अभिमान;
गोबिंददास दोऊ रस - धारन,
पाप-रजनि-अवसान।

[14]

रति-रग सरसि स्याम-हिय सूतलि
सरद - इन्दु - मुख बाला;
मरकत मदनहि क्वउ जनु पूजल
दै नय कंचन - माला।
स्यामल मुग पर ससि-मुग थापित
उर पर कुच - युग राज;
कनक-कुम्भ जनु उलटि दयो क्वउ
मदन - महोदधि - माँझ।

जोरल तन, मन भुज-भुज-बन्धन,
अधरन अधर मिलाव;
घेरि मृनाल-हेम नीलम - मनि
जनु बांध्यो इक ठांव।
घन-सह दामिनि, सजि दुकूल द्वउ,
दोउन इक पटवास;
चरनन घेर चारु सरसीरुह
मधुकर गोबिंददास।

[15]

आधहिं आध, आध दृग अंचरहिं,
जब धनि पेख्यो कान्ह;
सखि सत कोटि कुसुम-सर-जरजर,
रहय कि जाय परान।
सजनी, जानलि हम बिधि बाम;
द्वउ लोचन भरि जो हरि हेरइ,
इहइ तासु परिनाम।
कहत सुनयनि कान्हघन सांवरि,
मुहिं बिजुरी सम लाग;
तासु परस-रस वहति रसवती,
भो उर मो जनु आगि।
प्रेमवती रस-हित जिय तेजत,
चपल जीव, मधु साध;
गोबिंददास जान सिरिबल्लभ,.
रसवति - रस - मरजाद।

[16]

जिहि दरसन तन पुलकहिं भरई;
जिहि करखन जग - बन्धन हरई।
जिहि भेंटै फिरि बसनहु खलई;
जिहि चुम्बन अधरन दलमलई।
ए सखि, मानिय हरि-संग मेल;
जब अस होय मनोभव - केल।
जहं रंकिनि मनि - कंकन - बोलइ;
जहं नख - खतन दुहुंन तन खोलइ।

जहँ मनि-नूपुर तरलित कलई;
जहँ समजल लहि चन्दन गलई।
जहँ ऐसो रस नहि निरवहई;
तहँ परिवादहि गोबिंद कहई।

[17]

जब हरि-पानि-परस सो काँपहु
झाँपहु - झाँपहु अंग;
तब करि घनहि घन मनिमय अभरन,
किहिसन लावहु रंग।
ए धनि, अबहुँ न समुझसि काज?
जिहि जागे बिन जियहु न नीदहु
तिहि सन का भय लाज?
भरत अंक, तन जोरि वल्लरी,
'नहि - नहि' बोलसि थोर;
चुम्बन बेरि, जानि मुख मोरसि,
जनु बिधु - लुबुध चकोर।
जब है नाह नियत-रति-सम्मत,
पारत नहि अभिलाष;
गोबिंददास नाह बहुवल्लभ,
कइसे रहइ तुअ पास।

[18]

दोउ जन नित-नित नव अनुराग;
रूप दुहुँन नित दोउ हिय जाग।
दोउ मुख चूमइ दोउ कर कोर;
दोउ परिरम्भन दोउ भयो मोर।
दोउ दुहुन जंग दारिद हेम;
नित-नित बाढत नव-नव प्रेम।
नित-नित ऐसहि करत विलास;
नित - नित हेरइ गोबिंददास।

[पद-संख्या 5 से लेकर 13 तक 'माधुरी', मासिक, लखनऊ, के मार्च, 1929 के अंक में 'गोविन्ददास-पदावली' शीर्षक से तथा सारे पद 'सुधा', मासिक, लखनऊ, के मई, 1929 के अंक में 'बंगाली कवि गोबिन्ददास की कुछ कविता' शीर्षक से प्रकाशित। प्रबन्ध-प्रतिमा मे संकलित]

सागर के वक्ष पर

नील आकाश में बहते हैं मेघदल,
श्वेत कृष्ण बहुरंग,
तारतम्य उनमें तारल्य का दीखता,
पीत भानु माँगता है बिदा,
जलद रागछटा दिखलाते।

बहती है अपने ही मन से समीर,
गठन करता प्रभंजन,
गढ़ क्षण में ही, दूसरे क्षण में मिटता है,
कितने ही तरह के सत्य जो असम्भव है—
जड़ जीव, वर्ण तथा रूप और भाव बहु।

आती वह तुलाराशि जैसी
फिर बाद ही लखो महानाग,
देखो विक्रम दिखाता सिंह,
लखो युगल प्रेमियों को,
किन्तु मिल जाते सब
अन्त में आकाश में।

नीचे सिन्धु गाता बहु तान,
महीयान किन्तु नहीं वह,
भारत, तुम्हारी अम्बुराशि विख्यात है,
रूप-राग जलमय हो जाते है,
गाते हैं यहाँ किन्तु
करते नहीं गर्जन।

['समन्वय', मासिक, कलकत्ता, सौर भाद्रपद, संवत् 1986 वि. (अगस्त-सितम्बर, 1929) (विवेकानन्द की रचना 'सागर-वक्षे' का अनुवाद) गीत-गुंज (द्वितीय संस्करण) के परिशिष्ट में संकलित]

शिव-संगीत-2
(ताल-सुर—फाँक ताल)

हर हर हर भूतनाथ पशुपति ।
योगेश्वर महादेव शिव पिनाकपाणि ।।
ऊर्ध्व ज्वलन्त जटाजाल, नाचत व्योमकेश भाल,
सप्त भुवन धरत ताल, टलमल अवनी ।।

[सम्भावित अनुवाद-काल : 1922-30 (विवेकानन्द के 'शिव-संगीत' नामक गीतों में से एक का अनुवाद)। असंकलित]

भूमिकाएँ और समर्पण

1. प्रथम 'अनामिका' में समर्पण के स्थान पर दी गयी पंक्तियाँ

माँ,

जिस तरह चाहो बजाओ इस वीणा को,
यन्त्र है;
सुनो तुम्हीं अपनी सुमधुर तान;
बिगड़ेगी वीणा तो सुधारोगी बाध्य हो।

—सूर्यकान्त

2. 'परिमल' की भूमिका

भूमिका

हिन्दी की वाटिका मे खड़ी बोली की कविता की क्यारियाँ जो कुछ समय पहले दूरदर्शी बागवानों के परिश्रम से लग चुकी थी, आज धीरे-धीरे कलियाँ लेने लगी हैं। कही-कही, किसी-किसी पेड के दो-चार सुमन पंखुडियाँ भी खोलने लगे हैं। उनकी अमन्द सौरभ लोगो को खब पसन्द आयी है। परन्तु यह हिन्दी के उद्यान मे अभी प्रभात-काल ही की स्वर्णच्छटा फैली है। उसमें सोने के तारो का बुना कल्पना का जाल ही अभी है, जिसमें किशोर कवियों ने अनन्त-विस्तृत नील प्रकृति को प्रतिमा मे बाँधने की चेष्टाएँ की हैं, उसे प्रभात के विविध वर्णों से चमकती हुई अनेक रूपो मे सुन्दर देखकर। वे हिन्दी के इस काल के शुष्क साहित्य-हृदयों मे उन मनोहर प्रतिमाओं को प्रतिष्ठित करने का विचार कर रहे हैं। इसीलिए, अभी जागरण के मनोहर चित्र, आह्लाद-परिचय आदि जीवन के प्राथमिक चिह्न ही देख पडते है, विहंगो का मधुर-कल-कूजन, स्वास्थ्यप्रद, स्पर्श-सुखकर शीतल वायु, दूर तक फैली हुई प्रकृति के हृदय की हरियाली, अनन्तवाहिनी नदियों का प्रणय-चंचल वक्ष-स्थल, लहरो पर कामनाओ की उज्ज्वल किरणें, चारों ओर बाल-प्रकृति की सुकुमार चपल दृष्टि। इसके सिवा अभी कर्म की अविराम धारा बहती हुई नही देख पडती। इस युग के कुछ प्रतिभाशाली अल्प-वयस्क साहित्यिक प्राचीन 'गुरुडम' के एकच्छत्र साम्राज्य मे बगावत के लिए शासन-दण्ड ही पा रहे हैं, अभी उन्हें साहित्य के राजपथो पर साधिकार स्वतन्त्र रूप से चलने का सौभाग्य नही मिला; परन्तु ऐसा जान पड़ता है कि इस नवीन जीवन के भीतर से शीघ्र ही एक ऐसा आवर्त बँधकर उठनेवाला है, जिसके साथ साहित्य के अगणित जल-कण उस एक ही चक्र की प्रदक्षिणा करते हुए उसके साथ एक ही प्रवाह मे बह जायँगे, और लक्ष्य-भ्रष्ट या निदाघ से शुष्क न हो एक ही जीवन के उदार महासागर में विलीन होगे। यह नवीन साहित्य के क्रिया-काल मे सम्भव होगा। अभी तो प्रत्येक नवयुवक लेखक और कवि अपनी ही प्रतिभा के प्रदर्शन मे लगा हुआ है। अभी उसमे अधिकाश साहित्यिक अपने को समझ भी नही सके। जो कवि नही, वह भी अपने को कविता के क्षेत्र पर अप्रतिद्वन्द्वी समझता है। सब लोग अपनी ही कुशलता और अपनी ही रुचि-विशेषता को लेकर साहित्य के बाजार मे खड़े हुए देख पड़ते हैं। कही-कही तो बड़ा ही विचित्र नज्जारा है। प्रशंसा और आलोचना मे भी आदान-प्रदान जारी है। दलबन्दियों के भाव जिसमें न हो, ऐसे साहित्यिक कदाचित् ही

नजर आते हैं। और प्रतिभाशाली साहित्यिकों को निष्प्रभ तथा हेय सिद्ध करके ससम्मान आसन ग्रहण करनेवाले महालेखक और महाकविगण साहित्य में अपनी प्राचीन गुलामी-प्रथा की ही पुष्टि करते जा रहे हैं।

ऐसी परिस्थिति में 'परिमल' निकल रहा है। इसमे मेरी प्राथमिक अधिकांश चुनी हुई रचनाएँ हैं। इसके मैंने तीन खण्ड किये हैं। प्रथम खण्ड मे सममात्रिक सान्त्यानुप्रास कविताएँ है, जिनके लिए हिन्दी के लक्षण-ग्रन्थो के द्वारपालों को 'प्रवेश-निषेध' या 'भीतर जाने की सख्त मुमानियत है' कहने की जरूरत शायद न होगी। दूसरे खण्ड मे विषममात्रिक सान्त्यानुप्रास कविताएँ है। इस ढंग के साथ मेरे 'समवायः सखा मतः' या 'एकक्रिय भवेन्मित्रम्' सुकुमार कवि-मित्र पन्तजी के ढंग का साम्य है; यह भी उसी तरह ह्रस्व-दीर्घ-मात्रिक संगीत पर चलता है। पन्तजी के छन्दों मे स्वर की बराबर लड़ियाँ या सममात्राएँ अधिक मिलती हैं, इसमें बहुत कम—प्रायः नहीं। ह्रस्व-दीर्घ-मात्रिक संगीत का मुक्त रूप ऐसा ही होगा, जहाँ स्वर के उत्थान तथा पतन पर ही ध्यान रहता है, और भावना प्रसारित होती चली जाती है। तीसरे खण्ड मे स्वच्छन्द छन्द है, जिसके सम्बन्ध मे मुझे विशेष रूप से कहने की जरूरत है। कारण, इसे ही हिन्दी मे सर्वाधिक कलंक का भाग मिला है।

हिन्दी के हृदय मे खड़ी बोली की कविता का हार प्रभात की उज्ज्वल किरणों से खूब ही चमक उठा है, इसमें कोई सन्देह नही, और यह भी निर्भ्रान्त है कि राष्ट्र-प्राप्ति की कल्पना के काम्यवन मे सविचार विचरण करनेवाले हमारे राष्ट्रपतियों के उर्वर मस्तिष्क मे कानूनी कोणों के अतिरिक्त भाषा के सम्बन्ध की अब तक कोई भावना, महात्माजी, महामना मालवीयजी तथा लोकमान्य जैसे दो-चार प्रख्यात-कीर्ति महापुरुषों को छोड़कर, उत्पन्न नहीं हुई; जो कुछ थोड़ा-सा प्रचार तथा आन्दोलन राष्ट्र-भाषा के विस्तार के लिए किया जा रहा है, उसका श्रेय हिन्दी के शुभचिन्तक साहित्यिकों को, हिन्दी के पत्र-पत्रिकाओं को ही प्राप्त है। बंगाल अभी तक अपनी ही भाषा के उत्कर्ष की ओर तमाम भारतवर्ष को खींच लेने के लिए उत्कण्ठित-सा देख पड़ता है। इसका प्रमाण महामना मालवीयजी के सभा-पतित्व में, कलकत्ता-विद्यासागर कॉलेज होटल मे दिये हुए अंग्रेजी के विद्वान् प्रोफ़ेसर जे. एल. बनर्जी महाशय के भाषण से मिल चुका है। भरतपुर के हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन में महाकवि रवीन्द्रनाथ ने भी अपने भाषण मे राष्ट्र-भाषा के प्रचार पर विशेष कुछ नही कहा, जैसे महात्मा गांधीजी द्वारा प्रचारित चर्खा-विषय की आवश्यकता की तरह यह राष्ट्र-भाषावाद भी कोई अनावश्यक विषय हो। उन्होने केवल यही कहा कि अपनी भाषा में वह चमत्कार दिखलाने की कोशिश कीजिए, जिससे लोग स्वयं उसकी ओर आकृष्ट हों।

यहाँ तमाम विरोधी उक्तियों के खण्डन-मण्डन की जगह नहीं। मैं केवल यही कहूँगा कि प्रत्येक समाज के लिए कुछ हृदय-धर्म है, और कुछ मस्तिष्क-धर्म। अभी हिन्दी को राष्ट्र-भाषा बनाने मे मस्तिष्क-धर्म से ही काम लिया जाता है, जिस तरह साम्पत्तिक विचार से चर्खा और खद्दर के लिए। हिन्दी के प्राचीन साहित्य के साथ तुलना करने पर प्रान्तीय कोई भाषा नही टिकती, और उसका नवी-

साहित्य भी क्रमशः पुष्ट होता जा रहा है, जिसे देखकर यह आशा दृढ़ हो जाती है कि शीघ्र ही हिन्दी के गर्भ से बड़े-बड़े मनस्वी साहित्यिकों का उद्भव होगा। इस समय भी साहित्य मे हिन्दी अद्भुत प्रगति दिखला रही है। उधर जो लोग, खासकर बंगाल के लोग, अपनी ही भाषा की सार्वभौमिकता के प्रचार की कल्पना में लीन हैं, जिन्होने पुस्तकें लिखकर बोलचाल की हिन्दी के तमाम विभाग करते हुए उसे आगरे के इर्द-गिर्द में बोली जानेवाली कुछ ही लोगों की भाषा ठहराया है, और इस तरह अन्यान्य भाषाओं के साथ अपनी बंगला का मुकाबिला करते हुए उसे ही अधिक संख्यक मनुष्यो की भाषा सिद्ध किया है, जिन्होंने अमेरिका में रहने का रोब दिखलाते हुए बगला को ही राष्ट्र-भाषा का आसन दे डाला है, जो लोग छिपे तौर से बंगला के प्रचार के उपाय सोच रहे हैं, जिन लोगो को पश्चिमोत्तर भारत-वर्ष के तमाम शहरो में बंगालियों की अच्छी स्थिति के कारण उन्ही की भाषा के प्रसार की बात सूझती है, वे राष्ट्र-भाषा के अपर प्रश्नों की तरफ बिलकुल ही ध्यान नही देते, एक तृतीयाश मुसलमानों का विचार उनके मस्तिष्क मे नही आता, वे नही जानते कि आर्य उच्चारण और बगला के मंगोलियन उच्चारण मे क्या भेद है—बगला के उच्चारण-असादृश्य से पजाब, सिन्ध, राजपूताना, उत्तर प्रदेश, मध्यप्रदेश, बिहार, गुजरात और महाराष्ट्र की संस्कृति को कितना धक्का पहुँचता है, वे नही जानते। उस तलवार के जमाने मे सिर कटाकर भी साहित्य मे अपनी सस्कृति की रक्षा करनेवाले वे गत शताब्दियो के महापुरुष अपनी भाषा और लिपि के भीतर से असीम बल अपनी सन्तानो को दे गये हैं, वे नही जानते कि आजकल के जमीदारो, भैयो, मारवाड़ियो (मेड़ो) और गुजरातियो के निरक्षर शरीर के भीतर कितना बड़ा स्वाभिमान इस दैन्य के काल में भी जाग्रत् है, वे 'बहु-जन-हिताय, बहु-जन-सुखाय' का बिलकुल खयाल नही करते। इधर भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्रजी से लेकर आचार्य पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी तक जिन लोगों को खड़ी बोली की प्राण-प्रतिष्ठा का श्रेय मिला है, भाषा के मार्जन मे जिन लोगो ने अपने शरीर के तमाम रक्त-बिन्दु सुखा दिये हैं, हिन्दी मे खिचड़ी-शैली के समावेश तथा प्रचार से शहरो के प्रचलित उर्दू-शब्दो तथा मुहाविरो को, साहित्य मे जगह देते हुए मुसलमान-शासन-काल के चिह्न भी रख दिये है, और इस तरह अपने मुसलमान भाइयो को भी राष्ट्र की सेवा के लिए आमन्त्रित किया है, साहित्य के साथ-साथ राष्ट्र-साहित्य की भी कविता का उन्ही लोगों ने प्रथम शृंगार किया है। वे जानते थे, कलकत्ता, बम्बई, मद्रास और रंगून आदि अपर-भाषा-भाषी प्रान्तों में हिन्दी ही राज्य-कार्य तथा व्यवसाय आदि में लायी जा सकती है, शासक अंगरेजों के मस्तिष्क मे भी यही खयाल जड़ पकड़े हुए है, और वे भारत के लिए हिन्दी को ही सार्वभौमिक भाषा मानते और कार्य-सञ्चालनार्थ उसी की शुद्धाशुद्ध शिक्षा ग्रहण करते हैं। मैं यहाँ अवश्य बंगला का विरोध नही कर रहा, उसके आधुनिक अमर साहित्य का मुझ पर काफी प्रभाव है, मैं यहाँ केवल औचित्य की रक्षा कर रहा हूँ। जिस भाषा के आकार का उच्चारण बिलकुल अनार्य है, जिसमें ह्रस्व-दीर्घ का निर्वाह होता ही नही, जिसमें युक्ताक्षरो का एक भिन्न उच्चारण होता है, जिसके 'स'कारों और 'न'कारो के भेद सूझते ही नही, यह भाषा चाहे जितनी

मधुर हो, साहित्यिकों पर उसका जितना भी प्रभाव हो, वह कभी भारत की सर्व-मान्य राष्ट्र-भाषा नहीं हो सकती। और, जब तक लोग इस वाद-विवाद में पड़े है, नेतागण अंगरेजी के प्रवाह में आत्मविस्मृत हुए बह रहे हैं, तब तक खड़ी बोली अपने साहित्य के उत्कर्ष में श्रेष्ठ आसन ग्रहण कर लेगी, इसमें मुझे बिलकुल ही सन्देह नहीं। मैं यह भी जानता हूँ कि जो राष्ट्र-भाषा होगी, उसे अपने साहित्यिक पौरुष से ही यह पद प्राप्त करना होगा, और उसके सेवक इस विचार से बिलकुल निश्चेष्ट और परमुखापेक्षी भी नहीं रह गये। कारण, आलोक और प्रतिभा सबके लिए समान रूप से मुक्त है।

मनुष्यों की मुक्ति की तरह कविता की भी मुक्ति होती है। मनुष्यों की मुक्ति कर्मों के बन्धन से छुटकारा पाना है, और कविता की मुक्ति छन्दों के शासन से अलग हो जाना। जिस तरह मुक्त मनुष्य कभी किसी तरह भी दूसरे के प्रतिकूल आचरण नहीं करता, उसके तमाम कार्य औरों को प्रसन्न करने के लिए होते है—फिर भी स्वतन्त्र, इसी तरह कविता का भी हाल है। मुक्त काव्य कभी साहित्य के लिए अनर्थकारी नहीं होता, प्रत्युत उससे साहित्य में एक प्रकार की स्वाधीन चेतना फैलती है, जो साहित्य के कल्याण की ही मूल होती है। जैसे बाग की बँधी और वन की खुली हुई प्रकृति—दोनों ही सुन्दर है, पर दोनों के आनन्द तथा दृश्य दूसरे-दूसरे हैं। जैसे आलाप और ताल की रागिनी। इसमें कौन अधिक आनन्दप्रद है, यह बतलाना कठिन है, पर इसमें सन्देह नहीं कि आलाप वन्य प्रकृति तथा मुक्त काव्य स्वभाव के अधिक अनुकूल है। मेरे मुक्त काव्य के समर्थन में पण्डित जयदेव विद्यालंकारजी ने देहरादून-कवि-सम्मेलन में जो प्रहसन खेला था, उसमें गायत्री-मन्त्र का उदाहरण विरोधी जगन्नाथप्रसादजी चतुर्वेदी के सामने पेश किया था। लाखों ब्राह्मण गायत्री-मन्त्र का जप करते हैं। उसके जप के साथ-साथ भाषा की मुक्ति का प्रवाह प्रतिदिन उनके जिह्वाग्र से होकर बहता है, पर वे उसका अर्थ, उसकी सार्थकता, सब-कुछ भूल गये हैं। चूँकि उस छन्द का एक नाम 'गायत्री' रख दिया गया है, इसलिए प्रायः अज्ञजन उसमें स्त्री-मूर्ति ही की कल्पना कर बैठे है। 'तत्सवितुर्वरेण्यम्' में खुलासा ब्रह्म की स्तुति है कि वह सूर्य का भी वरेण्य है। 'तत्' न स्त्री है, न पुरुष। जिस तरह ब्रह्म मुक्त-स्वभाव है, वैसे ही यह छन्द भी। पर आज इस तरफ कोई दृक्पात भी नहीं करना चाहता। इतनी बड़ी दासता—रूढ़ियों की पाबन्दी इस मन्त्र के जपनेवालों पर भी सवार है। वेदों में काव्य की मुक्ति के ऐसे हजारों उदाहरण हैं, बल्कि 95 फीसदी मन्त्र इसी प्रकार मुक्त-हृदय के परिचायक हो रहे है। इन मन्त्रों को ईश्वर-कृत समझकर अनुयायीगण विचार करने के लिए भी तैयार नहीं, न पराधीन काल की अपनी बेड़ियाँ किसी तरह छोड़ेंगे, जैसे उन बेड़ियों के साथ उनके जीवन और मृत्यु का सम्बन्ध हो गया हो। 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति'। यहाँ उस मुक्त-स्वभाव ईश्वर को सर्व-भूतों के हृदय में ही ठहरा दिया गया है, और हृदय तक मन को उठा सकनेवाले जो कुछ भी करते हैं, मुक्त-स्वभाव से करते है, इसलिए वह कृति जैसे ईश्वर की कृति ही हो जाती है। बात यह है वेदों की अपौरुषेयता की। वे मनुष्यकृत ही हैं, पर वे मनुष्य उल्लसित प्रकार के थे। आजकल की तरह के रूढ़ियों के गुलाम या

अँगरेजी पुस्तकों के नक्काल नहीं। ईश्वर के सम्बन्ध की ये बातें जो समझते हैं, उनमें एक अद्भुत शक्ति का प्रकाश होता है। वे स्वयं भी अपनी महत्ता को समझते और खुलकर कहते भी हैं। उनकी वाणी में महाकर्षण रहता है। संसार उस वाणी से मन्त्र-मुग्ध हो जाता है। उस पर उस स्वर्गीय शक्ति की धाक जम जाती है। वह उस प्रभाव को मान लेता है। वैदिक काल के मुक्त-स्वभाव कवियों का एक और उदाहरण लीजिए—

सपर्यगाच्छुक्रमकायव्रत-
मस्नाविरथं शुद्धमपापविद्धम्;
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भू-
र्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः।

(यजु. अ. 40, मं. 8)

जरा चौथी पंक्ति को देखिए, कहाँ तक फैलती चली गयी है। फिर भी किसी ने आज तक आपत्ति नहीं की। शायद इसके लिए सोच लिया है कि साक्षात् परमात्मा आकर लिख गये हैं। अजी, परमात्मा स्वयं अगर यह रबड़-छन्द और केचुआ-छन्द लिख सकते हैं, तो मैंने कौन-सा कसूर कर डाला? आखिर आपके परमात्मा का ही तो अनुसरण किया है। आप लोग कृपा करके मुझे क्यों नहीं क्षमा कर देते? एक बात ध्यान देने की और है। संस्कृत-काल के गणात्मक छन्दों की भी परवा वैदिक काल में नहीं की गयी। इस छन्द की जो तीन पहली लड़ियाँ बराबर मालूम पड़ती हैं, उनमें भी स्वच्छन्दता पायी जाती है। देखिए, पहला वर्ण ह्रस्व है और दूसरा दीर्घ। अब गणों का साम्य नहीं रहा।

तीन-तीन और पाँच-पाँच सतरों की कविता इसी समय नहीं, पहले भी हुआ करती थी—

ऋग्वेद—

आ शुभ्रा यातमश्विना स्वश्वा
गिरो दस्रा जुजुषाणा युवाकोः
हव्यानि च प्रतिभृता वीतं नः।

वैदिक साहित्य—काव्य में इस प्रकार की स्वच्छन्द सृष्टि को देखकर हम तत्कालीन मनुष्य-स्वभाव की मुक्ति का अन्दाजा लगा लेते हैं। परवर्ती काल में ज्यों-ज्यों चित्रप्रियता बढ़ती गयी, साहित्य में स्वच्छन्दता की जगह नियन्त्रण तथा अनुशासन प्रबल होता गया, यह जाति त्यों-त्यों कमजोर होती गयी है। सहस्रों प्रकार के साहित्यिक बन्धनों से जाति स्वयं भी बँध गयी, जैसे मकड़ी आप ही अपने जाल में बँध गयी हो, जैसे फिर निकलने का एक ही उपाय रह गया हो कि उस जाल की उल्टी परिक्रमा कर वह उससे बाहर निकले। उस ऊर्णनाभ ने जितनी जटिलता दूसरे जीवों को फाँसने के लिए उस जाल में की थी, वह उतने ही

दृढ़ रूप से बँधा हुआ है, जब उसे अपनी मुक्ति के लिए उन तमाम बन्धनों को पार करना होगा। यही हाल वर्तमान समय में हमारे काव्य-साहित्य का है। इस समय के और पराधीन काल के काव्यानुशासनों को देखकर हम जाति की मानसिक स्थिति को भी देख ले सकते हैं! अनुशासन के समुदाय चारों तरफ से उसे जकड़े हुए हैं। साहित्य के साथ-साथ राज्य, समाज, धर्म, व्यवसाय, सभी कुछ पराधीन हो गये हैं। चित्र स्वयं ससीम हैं, इसलिए उन्हें प्यार करनेवाली वृत्ति भी एक सीमा के अन्दर चक्कर लगाया करती है, और इस तरह उस वृत्ति को धारण करनेवाला मनुष्य भी चाहे पहले का स्वतन्त्र हो, पर पीछे से सीमा मे बँधकर पराधीन हो जाता है। नियम और अनुशासन भी सीमा के ही परिचायक होते हैं, और क्रमश: मनुष्य-जाति को क्षुद्र से क्षुद्रतर तथा गुलाम से गुलाम कर देनेवाले।

साहित्य की मुक्ति उसके काव्य मे देख पड़ती है। इस तरह जाति के मुक्ति-प्रयास का पता चलता है। धीरे-धीरे चित्रप्रियता छूटने लगती है। मन एक खुली हुई प्रशस्त भूमि मे विहार करना चाहता है। चित्रों की सृष्टि तो होती है, पर वहाँ उन तमाम चित्रों को अनादि और अनन्त सौन्दर्य मे मिलाने की चेष्टा रहती है। बर्फ मे जैसे तमाम वर्णों की छटा, सौन्दर्य आदि दिखाकर उसे फिर किसी ने वाष्प मे विलीन कर दिया हो या असीम सागर मे मिला दिया हो। साहित्य मे इस समय यही प्रयत्न जोर पकड़ता जा रहा है, और यही मुक्ति-प्रयास के चिह्न भी हैं। अब लीलाम्बरी ज्योतिर्मूर्ति की सृष्टि कर चतुर साहित्यिक फिर उसे अनन्त नील-मण्डल में लीन कर देते हैं। पल्लवों के हिलने मे किसी अज्ञात चिरन्तन अनादि सर्वज्ञ को हाथ के इशारे अपने पास बुलाने का इंगित प्रत्यक्ष करते हैं। इस तरह चित्रों की सृष्टि असीम सौन्दर्य मे पर्यवसित की जाती है, और यही जाति के मस्तिष्क मे विराट् दृश्यों के समावेश के साथ-ही-साथ स्वतन्त्रता की प्यास को भी प्रखरतर करते जा रहे है।

यही बात छन्दों के सम्बन्ध में भी है। छन्द भी जिस तरह कानून के अन्दर सीमा के सुख मे आत्मविस्मृत हो सुन्दर नृत्य करते, उच्चारण की शृंखला रखते हुए श्रवण-माधुर्य के साथ-ही-साथ श्रोताओं को सीमा के आनन्द में भुला रखते है, उसी तरह मुक्त छन्द भी अपनी विषम गति में एक ही साम्य का अपार सौन्दर्य देता है, जैसे एक ही अनन्त महासमुद्र के हृदय की सब छोटी-बड़ी तरंगें हों, दूर प्रसारित दृष्टि में एकाकार, एक ही गति मे उठती और गिरती हुई।

'कविता-कौमुदी' में पण्डित रामनरेशजी त्रिपाठी ने जैसा लिखा है, भिन्न-तुकान्त (Blank verse) का श्रीगणेश पहले-पहल हिन्दी में प्रसिद्ध कवि बाबू जयशंकर 'प्रसाद'जी ने किया है। उनका यह छन्द इक्कीस मात्राओं का है। पण्डित रूपनारायणजी पाण्डेय ने इस छन्द का उपयोग (शायद अपने अनुवाद मे) बहुत काफी किया है। पाण्डेयजी से इस छन्द के सम्बन्ध मे पूछने पर, उन्होंने जो उत्तर दिया, उससे इस विषय का फैसला न हुआ कि छन्द के प्रथम लिखनेवाले 'प्रसाद'-जी हैं या वह। उदाहरण पाण्डेयजी द्वारा अनुवादित रवीन्द्रनाथ की 'राजारानी' से दे रहा हूँ—

'कहना होगा सत्य तुम्हारा ! किन्तु मैं
करता हूँ विश्वास तुम्हारी बात का
जब तक, तब तक तुम चिन्ता कुछ मत करो।
तुम पर से विश्वास उठेगा जिस घड़ी,
सत्यासत्य विचार करूँगा मैं तभी।'

यह भिन्नतुकान्त छन्द मात्रिक है। एक भिन्नतुकान्त हिन्दी में दूसरे प्रकार का बाबू मैथिलीशरणजी गुप्त द्वारा आया है—वह वर्णात्मक है—उसका भी उपयोग अनुवाद ही के रूप मे गुप्तजी ने किया है। उदाहरण उनके 'वीरागना-काव्य' के अनुवाद से देता हूँ—

'सुनी अब दुःख-कथा—मन्दिर में मन के
रख वह श्याम मूर्ति त्यागिनी-तपस्विनी
पूजे इष्टदेव को ज्यों निर्जन गहन मे—
पूजती थी नाथ को मैं; अब विधि-दोष से
चेदीश्वर राजा शिशुपाल जो कहाता है,
लोक-रव सुनती हूँ, हाय! वर - वेश से
आ रहा है शीघ्र यहाँ वरने अभागी को!'

एक तीसरे प्रकार का अतुकान्त काव्य (Blank verse) हिन्दी मे और है। इसके रचयिता हैं हिन्दी के प्रसिद्ध महाकवि अयोध्यासिंहजी उपाध्याय। बहुतो ने इनके लिखे हुए 'प्रिय-प्रवास' के अतुकान्त छन्दो को ही हिन्दी की प्रथम अतुकान्त सृष्टि माना है। उपाध्यायजी ने इसकी भूमिका मे गण-वृत्तों को हिन्दी मे अतुकान्त काव्य के योग्य माना है, और यह इसलिए कि संस्कृत की कविता अतुकान्त हैं, और वह गण-वृत्तो मे है। यथा—

'अधिक और हुई नभ-लालिमा,
दश दिशा अनुरञ्जित हो गयीं;
सकल पादप - पुञ्ज - हरीतिमा
अरुणिमा - विनिमज्जित-सी हुई।'

एक प्रकार का अतुकान्त 19 मात्राओ का और लिखा गया है। जहाँ तक पता चलता है, अभी सुकवि बाबू सियारामशरण गुप्त इसके प्रथम आविष्कारक ठहरते हैं। हिन्दी के कोमल कवि पन्तजी ने भी इतनी ही मात्राओ के अतुकान्त छन्द मे 'ग्रन्थि' नाम की अपनी मनोहर कविता कई संख्याओं मे 'सरस्वती' मे छपवायी है। सियारामशरणजी ने 'प्रभा' मे इस प्रकार की अतुकान्त कविता पहले-पहल लिखी थी, यह मुझे उन्ही के कथनानुसार मालूम हुआ है। अब तक मैं समझता था, इस 19 मात्राओ के अतुकान्त काव्य के पन्तजी ही प्रथम आविष्कारक हैं। यह इस प्रकार है—

विरह अहह! कराहते इस शब्द को
निठुर विधि ने आँसुओं से है लिखा। —सुमित्रानन्दन पन्त

एक बार की अतुकान्त कविता का रूप पण्डित गिरिधरजी शर्मा 'नवरत्न' ने हिन्दी में खडा किया है। इसकी गति कवित्त-छन्द की-सी है। हरएक छन्द आठ-

आठ वर्णों का होता है। अन्त्यानुप्रास नहीं रहता। मैंने रवीन्द्रनाथ की एक कविता के अनुवाद में इनके अतुकान्त काव्य का रूप देखा था। 'मेरे पंख मुरदार', इस तरह हर पंक्ति में आठ-आठ अक्षर रहते हैं। अमित्र कविता इस प्रकार हिन्दी के गण, मात्रा और वर्ण, तीनों वृत्तों में हुई है। यहाँ किसकी कविता सफल है और किसकी निष्फल, इसका विचार नहीं किया गया। इसका फैसला भविष्य के लोग करेंगे। मुझे केवल यही कहना है कि हिन्दी मे अतुकान्त कविता के कवियों में किसी ने भी दूसरे का अनुसरण नहीं किया। जहाँ कहीं मात्राओं में मेल हो गया है, वहाँ मुमकिन है, एक को अपने दूसरे कवि की रचना परखने का मौका न मिला हो, और दोनों की मौलिकता एक-दूसरे से लड़ गयी हो। ऐसा न होता, तो वे कोई दूसरा छन्द जरूर चुनते, जबकि अन्त्यानुप्रास उड़ा देने से ही अतुकान्त काव्य बन जाता है। इस प्रकार की अतुकान्त कविता मे प्रथम श्रेय आल्हखण्ड के लिखने-वाले को हिन्दी में प्राप्त है।

इस तरह की कविता अतुकान्त काव्य का गौरव-पद भले ही अधिकृत करती हो, वह मुक्त-काव्य या स्वच्छन्द कदापि नहीं। जहाँ मुक्ति रहती है, वहाँ बन्धन नहीं रहते—न मनुष्यों में, न कविता में। मुक्ति का अर्थ ही है बन्धनों से छुटकारा पाना। यदि किसी प्रकार का शृङ्खलाबद्ध नियम कविता में मिलता गया, तो वह कविता उस शृङ्खला से जकड़ी हुई ही होती है, अतएव उसे हम मुक्ति के लक्षणों में नहीं ला सकते, न उस काव्य को मुक्त-काव्य कह सकते हैं। ऊपर जितने प्रकार के अतुकान्त काव्य के उदाहरण दिये गये हैं, सब एक-एक सीमा में बँधे हुए हैं, एक-एक प्रधान नियम सबमें पाया जाता है। गण-वृत्तों में गणों की शृङ्खला, मात्रिक वृत्तों में मात्राओं का साम्य, वर्ण-वृत्तों में अक्षरों की समानता मिलती है। कहीं भी इस नियम का उल्लंघन नहीं किया गया। इस प्रकार के दृढ़ नियमों से बँधी हुई कविता कदापि मुक्त छन्द नहीं हो सकती। मुक्त छन्द तो वह है, जो छन्द की भूमि में रहकर भी मुक्त है। इस पुस्तक के तीसरे खण्ड में जितनी कविताएँ हैं, सब इसी प्रकार की हैं। उनमें नियम कोई नहीं। केवल प्रवाह कवित्त-छन्द का-सा जान पड़ता है। कहीं-कहीं अक्षर आप-ही-आप आ जाते हैं। मुक्त छन्द का समर्थक उसका प्रवाह ही है। वही उसे छन्द सिद्ध करता है, और उसका नियम-राहित्य उसकी मुक्ति।

> "विजन-वन-वल्लरी पर
> सोती थी सुहाग-भरी
> स्नेह-स्वप्न-मग्न अमल-कोमल-तनु तरुणी
> जुही की कली
> दृग बन्द किये—शिथिल—पत्राङ्क में।"

यहाँ 'सोती थी सुहाग-भरी' आठ अक्षरों का एक छन्द आप-ही-आप बन गया है। तमाम लड़ियों की गति कवित्त-छन्द की तरह है।

हिन्दी में मुक्त-काव्य कवित्त छन्द की बुनियाद पर सफल हो सकता है। कारण, यह छन्द चिरकाल से इस जाति के कण्ठ का हार हो रहा है। दूसरे, इस छन्द में एक विशेष गुण यह भी है कि इसे लोग चौताल आदि बड़ी तालों में तथा ठुमरी की

तीन तालों में भी सफलतापूर्वक गा सकते है, और नाटक आदि के समय इसे काफी प्रवाह के साथ पढ़ भी सकते हैं। आज भी हम रामलीलाओं मे, लक्ष्मण-परशुराम-संवाद के समय, वार्तालाप में इस छन्द का चमत्कार प्रत्यक्ष कर लेते हैं। यदि हिन्दी का कोई जातीय छन्द चुना जाय, तो वह यही होगा। आजकल के मार्जित कानों को कवित्त-छन्द का नाटक में प्रयोग जरा खटकता है, और वह इसीलिए कि बार-बार *अन्त्यानुप्रास का आना* वार्तालाप की स्वाभाविकता को बिगाड देता है। बाबू मैथिलीशरणजी को इस विचार मे विशेष सफलता मिली है। कारण, कवित्त-छन्द की *गति पर उनके अमित्र* छन्द में *अन्त्यानुप्रास मिटा दिया गया है। नाटको* में सबसे अधिक रोचकता इसी कवित्त-छन्द की बुनियाद पर लिखे गये स्वच्छन्द छन्द द्वारा आ सकती है। इस अपने छन्द को मैं अनेक साहित्यिक गोष्ठियों मे पढ़ चुका हूँ, और हिन्दी के प्रसिद्ध अधिकाश सज्जन सुन चुके हैं। एक बार कलकत्ता-पब्लिक-स्टेज पर भी इस छन्द में नाटक लिखकर खेल चुका हूँ। लोगों से मुझे अब तक उत्साह ही मिलता रहा है, पर दूसरों की पठन-अक्षमता के आक्षेप भी अवसर सुनता रहा हूँ। मेरा विचार है कि अभ्यास के कारण उन्हें पढने मे असुविधा होती है। छन्द की गति का कोई दोप नही। आजकल हिन्दी के दो-चार और लेखकों तथा कवियो ने इस छन्द में रचना-प्रयास किया है, और उन्हें सफलता भी मिली है। इससे मेरा विश्वास इस पर और भी दृढ हो गया है। इस छन्द में art of reading का आनन्द मिलता है, और इसीलिए इसकी उपयोगिता रङ्ग-मञ्च पर सिद्ध होती है। कही-कही *मिल्टन और शेक्सपियर ने सर्वत्र* अपने अतुकान्त काव्य का उपयोग नाटकों में ही किया है। बंगला मे माइकेल मधुसूदन दत्त द्वारा अतुकान्त *कविता की सृष्टि हो जाने पर* नाट्याचार्य गिरीशचन्द्र ने अपने स्वच्छन्द छन्द का नाटकों मे ही प्रयोग किया है। स्वच्छन्द छन्द नाटक-पात्रो की भाषा के लिए ही है, यों उसमें चाहे जो कुछ लिखा जाय। अब इसके समर्थन में अधिक कुछ नही लिखना। कारण, समर्थन की अपेक्षा अधिकाधिक रचना इसके प्रचार तथा प्रसार का योग्य उपाय है।

मेरी तमाम रचनाओं मे दो-चार जगह दूसरों के भाव, मुमकिन है, आ गये हों; पर अधिकांश कल्पना—95 फीसदी—मेरी अपनी है। आवश्यक होने पर इस सम्बन्ध में अन्यत्र लिखूँगा। कविता की पुस्तक मे कैफियत से भरी हुई बृहत् भूमिका मेरे विचार से हास्यास्पद है। मैं अपने स्नेहशील मित्रों को कृतज्ञ हृदय से धन्यवाद देता हूँ, जो मुझे हर तरह *से आज तक प्रोत्साहन* देते रहे हैं।

—'निराला'

3. 'गीतिका' की भूमिका

भूमिका

गीत-सृष्टि शाश्वत है। समस्त शब्दों का मूल-कारण ध्वनिमय ओंकार है। इसी अशब्द संगीत से स्वर-सप्तकों की भी सृष्टि हुई। समस्त विश्व स्वर का ही पुंजीभूत रूप है, अलग-अलग व्यष्टि में स्वर-विशेष—ध्वनित या मौन।

स्वर-संगीत स्वयं आनन्द है। आनन्द ही इसकी उत्पत्ति, स्थिति और परिसमाप्ति है। जहाँ आनन्द को लोकोत्तर कहकर विज्ञों ने निर्विषयत्व की व्यञ्जना की है—संसार से बाहर, ऊँचे रहनेवाले किसी की ओर इंगित किया है—आनन्द की अमिश्र सत्ता प्रतिपादित की है, वहाँ संगीत का यथार्थ रूप अच्छी तरह समझ में आ जाता है।

आर्यजाति का सामवेद संगीत के लिए प्रसिद्ध है, यों इस जाति ने वेदों में जो कुछ भी कहा, भावमय संगीत में कहा है। संगीत का ऐसा मुक्त रूप अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता। गायत्री की महत्ता आज भी आर्यों में प्रतिष्ठित है। इसके नाम से ही संगीत की सूचना है। भाव और भाषा की ऐसी पवित्र झंकार और भी कहीं है, मुझे नहीं मालूम। स्वर के साथ शब्द, भाव और छन्द तीनों मुक्त हैं।

जिस तरह वेदों के बाद मुक्त भाषा व्याकरण से बँधती गयी और अनेकानेक रूपों से वेदों से भावजन्य सामञ्जस्य रखती गयी है, उसी प्रकार संगीत संस्कृत में आकर, छन्द-ताल-वाद्य आदि से बँध गया है। और इस तरह संगीत के अर्थ से समवेत सभ्य-जनों के पवित्र आनन्द का साधक हो गया है। पहले जो भावात्मक निस्संग, एक ही ऋषि-कण्ठ से निकला हुआ था, वह बाद को समुदाय के आनन्द का प्रवर्तक हुआ। फिर भी उसका लक्ष्य विशुद्ध आनन्द रहता गया, वहीं लोकोत्तर आनन्द से उसका सम्पर्क है। उसमें अनेकानेक अदल-बदल होते रहे। छन्द के भाव और रूप को समझकर राग और रागिनियाँ निर्मित होने लगीं। इतना ही नहीं, राग और रागिनियों की ताल के अनुसार अनेकानेक गति और तानें बनीं

गयीं। आज भारत में जिस प्राचीन संगीत की शिक्षा प्रचलित है, उसकी बुनियाद यही संस्कृतकाल है। इसके बाद, मुसलमानों के शासन के अन्त तक, आज तक, मुसलमान गायकों के अधिकार में जो भिन्न-भिन्न तानें, अदायगी आदि स्वरबद्ध हुई है, वे भी प्राचीन संगीत के अन्तर्गत कर ली गयी हैं। यह अलग-अलग घराने की अदायगी और तानें उसी घराने के नाम से प्रचलित हैं। मुसलमान काल में स्वर भी अनेक निर्मित हुए। भारत के विभिन्न प्रान्त भी इस स्वर-सन्धान में अपना अस्तित्व रखते हैं—संगीत पर उनके नाम की छाप पड़ गयी है। यह सब कला के विकास के लिए ही किया गया है; पर अधिक अस्त्र-शस्त्र बाँधने से शस्त्र-संचालन की असली शक्ति जिस तरह काम नहीं करती—सिपाही बोझ से दब जाता है—दूसरे पर विजय करने की जगह उसी के प्राण संकट में पड़ते हैं, वैसे ही तानों के भार से संगीत के क्षीण वृन्त पर खिला पुष्प-शरीर झुकता गया। क्रमशः, ऋषि-कण्ठ से गायक-गायिका-कण्ठ में आकर, विश्वदेवता को वन्दित करने की जगह राजा को आनन्दित करता हुआ, गिर गया; लोक से उसका सहयोग अधिक, लोकोत्तरता से कम पड़ता गया; इसलिए आनन्द की श्रेष्ठता कहाँ तक रही, यह सहज अनुमेय है।

'गीतगोविन्द' संस्कृत-काल के बहुत बाद की रचना है; यद्यपि इस समय भी समस्त देश का माध्यम संस्कृत थी, फिर भी प्रादेशिक भाषाएँ इस समय अपना पूरा विस्तार कर चुकी थी,—उनका यथेष्ट साहित्य तैयार हो चुका था। आज संगीत में मुख्य जितनी तालें प्रचलित हैं, वे प्रायः सभी 'गीतगोविन्द' में हैं। रचना संस्कृत में होने के कारण ताल-सम्बन्धी एक मात्रा की घट-बढ़ उसमें नहीं—बिल्कुल सोने की तोल है। सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर मालूम होता है, मैथिल और बंगला के विद्यापति, चण्डीदास आदि कवियों की रचना में 'गीतगोविन्द' का ही प्रभाव पड़ा है। उड़िया के भी उच्चकोटि के कुछ कवियों के गीतों में वह ढंग है। इन सबकी गीत-रचना उसी तरह भाव-प्रधान, वर्णना-चातुरी और यथार्थ साहित्यिकता से भरी हुई है जिस तरह वेद के मन्त्र-संगीत के मुकाबले संस्कृत का छन्दःसंगीत गठा हुआ होने पर भी, उच्चारण-ध्वनि के मुक्त, सान्द्र एवं गम्भीर भाव-बोध के विचार से गिरा हुआ जान पड़ता है, उसी तरह रस-प्रधान कोमल-कान्त पदावली 'गीतगोविन्द' के मुकाबले वैष्णव कवियों की रचनाएँ कमजोर मालूम पड़ती हैं; परन्तु आजकल की रीति से अश्लीलता का विचार रखने पर चण्डीदास और गोविन्ददास (बिहारी) अधिक शुद्ध हैं।

हिन्दी में जो प्रचलित गीत है, उनमें कबीर के गीत शायद सबसे प्राचीन हैं; कई दृष्टियों से कबीर का बहुत ऊँचा स्थान है। कबीर की भाषा का ओज अन्यत्र कम प्राप्त होता है। फिर भी साहित्य और संगीत के विचार से, दोनों की संस्कृति की दृष्टि से, मुझे कबीर के गीत आदर्श गीत नहीं मालूम होते। सूर के गीत साहित्यिक महत्त्व रखते हैं, तुलसी के भी ऐसे ही हैं। मीरा संगीत की देवी हैं। जनता में कबीर से मीरा तक सभी के गीत प्राणों की सम्पत्ति हैं। आज तक इन्हीं गीतों के आधार पर लोग अपनी प्राचीन सभ्यता और संस्कृति को पकड़े हुए हैं; परन्तु यह सब होते हुए भी, आधुनिक दृष्टि से जो एक दोष पदों में है, वही एक दूसरे रूप से सूर,

तुलसी और मीरा में भी है। कबीर निर्गुण ब्रह्म की उपासना मे आधुनिक-से-आधुनिक के मनोनुकूल होते हुए भी भाषा-साहित्य-संस्कृत मे जैसे असार्जित है, वैसे ही सूर, तुलसी आदि भाषा-संस्कार रखते हुए भी कृष्ण और राम की सगुण उपासना के कारण आधुनिकों की रुचि के अनुकूल नही रहे। यह सत्य है कि राम और कृष्ण का ब्रह्मरूप अब अनेक आधुनिक समझते है और इन अवतार-पुरुषो और इन पर लिखी गयी पदावली से उन्हे हार्दिक प्रेम है; पर फिर भी इनकी लीलाओ के पुनः-पुनः मनन, कीर्तन और उल्लेख से उन्हे तृप्ति नही होती, फिर खडी बोली केवल बोली मे ही नही खडी हुई, कुछ भाव भी उसने ब्रजभाषा-संस्कृति से भिन्न, अपने कहकर खडे किये हैं, यद्यपि वे बहिर्विश्व की भावना से संश्लिष्ट है। राम और कृष्ण का साहित्य खड़ी बोली ने भी यथेष्ट दिया है और देती जा रही है।

सन्त-पदावली से एक बहुत बड़ा उपकार जनता का हुआ। जहाँ संगीत की कला दरबार मे तरह-तरह की उखाड़-पछाडों से पीडित हो रही थी, भावपूर्ण सीधा-सीधा स्वर लुप्त हो रहा था, वहाँ भक्त साधको और साधिकाओं के रचे गीत और स्वर यथार्थ संगीत की रक्षा कर रहे थे, और जनता पूरे आग्रह से यथासाध्य इनका अनुकरण करती थी—भजन की महत्ता का यही कारण है।

पर समय ने पलटा खाया। पश्चिम की एक दूसरी सभ्यता देश मे प्रतिष्ठित हुई। इसका प्रभाव हर तरह बुरा रहा, ऐसा कोई समझदार नहीं कह सकता। इसके शासन का सुफल उन्नति के सभी मार्गों मे प्रत्यक्ष है। जिस तरह मुसलमानो के शासन-काल मे गजलो की एक नये ढंग की अदायगी देश में प्रचलित हुई और लोकप्रिय भी हुई—आज युक्तप्रान्त, पञ्जाब, बिहार आदि प्रदेशों में गजलों का जनता पर अधिक प्रभाव है, उसी तरह यहाँ अँगरेजी संगीत का प्रभाव पड़ा। अभी अँगरेजी संगीत का प्रभाव बंगाल के अलावा अन्य प्रदेशों पर विशेष रूप से नहीं पड़ा—दूसरे लोगों ने अपने गीतो की स्वर-लिपि उस तरह से तैयार करके जनता के सामने नही रखी; पर यह प्रभाव बंगाल के अलावा अन्यत्र भी अब फैल रहा है। बंगला-साहित्य ने गजलों को भी अपनाया है; पर यह रंग मुसलमान-काल मे नही, अँगरेजी शासन के बाद उस पर चढ़ा, और उर्दू की गजलें नही गायीं, बंगला मे ही तैयार की गयी। अँगरेजी संगीत से प्रभावित होने के ये माने नही कि उसकी हू-ब-हू नकल की गयी। अँगरेजी संगीत की पूरी नकल करने पर इससे भारत के कानो की कभी तृप्ति होगी, यह सन्दिग्ध है। कारण, भारतीय संगीत की स्वर-मैत्री मे जो स्वर प्रतिकूल समझे जाते है, वे अँगरेजी संगीत में चलते है। उनसे अँगरेजी (मेरा 'अँगरेजी' शब्द से मतलब पश्चिमी से है) हृदय मे भी भाव पैदा होता है। अस्तु, अँगरेजी संगीत के नाम से जो कुछ लिया गया, उसे हम अँगरेजी संगीत का ढंग कह सकते है। स्वर-मैत्री हिन्दुस्तानी ही रही। डी. एल. राय और रवीन्द्रनाथ इस ढंग के [illegible] आदि। [illegible] 'डी. एल. राय का स्वर' के नाम से बंगाल मे प्रसिद्ध है। [illegible] तक है। यह स्वर अँगरेजी ढंग से [illegible] है; पर [illegible] है। स्वर-मैत्री के विचार से [illegible]

लिये हुए है। फिर भी ये भिन्न-भिन्न रागिनियों में ही बाँधे हुए हैं। सिर्फ अदायगी अँगरेजी है। राग-रागिनियों मे भी स्वतन्त्रता ली गयी है। भाव-प्रकाशन के अनुकूल उनमें स्वर-विशेष लगाये गये है—उनका शुद्ध रूप मिश्र हो गया है। यह भाव-प्रकाशनवाला बोध पश्चिमी संगीत-बोध के अनुसार है।

इस प्रकार शब्द और स्वर की रचना पहले से भिन्न हो गयी है और होती जा रही है। कला के सभी अंगों में यह कार्य मौलिकता के नाम से होता है और आधुनिक जनों को ऐसी मौलिकता अच्छी भी लगती है। यह वह समय है, जब संसार की सभी जातियो में आदान-प्रदान चल रहा है, मेल-मिलाप हो रहा है। साहित्य इसका माध्यम है। इसलिए साहित्यिक संसार की अच्छी चीजों का समावेश अपने साहित्य मे करते हैं और उनके प्राणों के रंग से रंगीन होकर वे चीजें साधारणों को भी रँग देती हैं। इस प्रकार अन्य जाति के होने पर भी वस्तु-विषय मनुष्य-मात्र के होते जा रहे हैं। आधुनिक साहित्य का संक्षेप मे यही कार्य, यही उत्कर्ष और यही सफलता है। जो साहित्य इसमे जितना पिछडा हुआ है, वह उतना ही अधूरा समझा जाता है।

यद्यपि मुझे पश्चिम के किसी प्रसिद्ध देश मे अधिक काल तक रहने का सुयोग नही मिला, फिर भी मैं कलकत्ता और बंगाल में उम्र के बत्तीस साल तक रह चुका हूँ और कलकत्ता में आधुनिक भावना के किसी आकार से अपरिचित रहने की किसी के लिए वजह न होगी अगर वह अपने काम से ही काम न रखकर परिचय भी करना चाहता है। चूंकि बचपन मे औरों की तरह मैं भी निष्काम था, इसलिए सब प्रकार के सौन्दर्यो को देखने और उनसे परिचित होने के सिवा मेरे अन्दर दूसरी कोई प्रेरणा ही न उठती थी। क्रमशः ये संस्कार बन गये। जिस तरह घर के अहाते मे घर के, अवधी, बैसवाड़ी या कनौजिया संस्कार तैयार हो रहे थे, उसी तरह बाहर, बाहरी संसार के। अन्त में वे मेरे अपने संस्कार बन गये। वे मेरे साहित्य में प्रतिफलित हुए, जिनसे हिन्दी-साहित्य और हिन्दू-संस्कृति को मेरे साहित्य के समझदारों के कथनानुसार गहरा धक्का पहुँचा।

इन संस्कारों के फलस्वरूप हिन्दी-संगीत की शब्दावली और गाने का ढंग, दोनों मुझे खटकते रहे। न तो प्राचीन 'ऐसो सिय रघुबीर भरोसो' शब्दावली अच्छी लगती थी, यद्यपि इसमें भक्तिभाव की कमी न थी, न उस समय की आधुनिक शब्दावली 'तोम-तीरें सब धरी रह जायँगी मगरूर सुन' यद्यपि इसमें वैराग्य की मात्रा यथेष्ट थी। हिन्दी-गवैयों का सम पर आना मुझे ऐसा लगता था, जैसे मजदूर लकड़ी का बोझ मुकाम पर लाकर धम्म से फेंककर निश्चिन्त हुआ। मुझे ऐसा मालूम होने लगा कि खड़ी बोली की संस्कृति जब तक संसार की अच्छी-अच्छी सौन्दर्य-भावनाओं से युक्त न होगी, वह समर्थ न होगी। उसकी सम्पूर्ण प्राचीनता जीर्ण है। मैंने पद्य के अपर अंगों में जो थोड़ा-सा काम किया है, वह खड़ी बोली के अनुरूप-प्रतिरूप जैसा भी हो, उसके अलावा कुछ गीत भी मैंने लिखे हैं। वही इस पुस्तिका में संकलित हैं। प्राचीन गवैयों की शब्दावली, संगीत की रक्षा के लिए, किसी तरह जोड़ दी जाती थी; इसलिए उसमें काव्य का एकान्त अभाव रहता था। आज तक उनका यह दोष प्रदर्शित होता है। मैंने अपनी शब्दावली;

को काव्य के स्वर से भी मुखर करने की कोशिश की है। ह्रस्व-दीर्घ की घट-बढ़ के कारण पूर्ववर्ती गवैये शब्दकारों पर जो लाञ्छन लगता है, उससे भी बचने का प्रयत्न किया है। दो-एक स्थलों को छोड़कर अन्यत्र सभी जगह संगीत के छन्दः-शास्त्र की अनुवर्तिता की है। भाव प्राचीन होने पर भी प्रकाशन का नवीन ढंग लिये हुए है। साथ-साथ उनके व्यक्तीकरण में एक-एक कला है, जिसका परिचय विज्ञ जन अपने अन्वेषण से आप प्राप्त कर सकेंगे। यहाँ मैं उन पर विशेष रूप से न लिख सकूँगा। वे उस रूप में हिन्दी के न थे, इतना मैं लिखे देता हूँ। जो संगीत कोमल, मधुर और उच्च भाव तदनुकूल भाषा और प्रकाशन से व्यक्त होता है उसके साफल्य की मैंने कोशिश की है। ताल प्रायः सभी प्रचलित हैं। प्राचीन ढंग रहने पर भी वे नवीन कण्ठ से नया रंग पैदा करेंगी।

धम्मार

"प्राण-धन को स्मरण करते,
नयन झरते—नयन झरते !"

धम्मार की चौदह मात्राएँ दोनों पंक्तियों में हैं। गति भी वैसी ही। इसके अन्तरे में विशेषता है—

"स्नेह ओतप्रोत;
सिन्धु दूर, शशिप्रभा-दृग
अश्रु ज्योत्स्ना-स्रोत।"—

यहाँ पहली और तीसरी पंक्ति में चौदह-चौदह मात्राएँ नहीं हैं, दूसरी में हैं। पहली और तीसरी पंक्ति में मात्रा भरनेवाले शब्द इसलिए कम हैं कि वहाँ स्वर का विस्तार अपेक्षित है, और दोनों जगह बराबर पंक्तियाँ रखी गयी हैं। यह मतलब गायक आसानी से समझ लेता है। यह उस तरह की घट-बढ़ नहीं जैसी पुराने उस्ताद गवैयों के गीतों में मिलती है। पहली लाइन की चौदह मात्राएँ इस तरह पूरी होंगी—

1 2 2 2 2 2 2 1 = 14
| | | | | | | |
स्ने + ह + ओ + त + प्रो + ओ + ओ + त—

गाने में हर मात्रा अलग उच्चरित होगी। इसी प्रकार तीसरी पंक्ति की मात्राएँ बैठेंगी। यह संगीत-रचना की कला में गण्य है।

रूपक

यह सात मात्राओं की ताल है—

"जग का एक देखा तार।
कण्ठ अगणित, देह सप्तक,
मधुर स्वर-झंकार।"—

इसका एक विभाजन मैं कर रहा हूँ; पर गायक सुविधा या इच्छानुसार कहीं भी सम रख सकता है। मैं केवल सात-सात मात्राओं का विभाजन कर रहा हूँ—

'एक देखा। तार जग का।
कण्ठ अगणित। देह सप्तक।
मधुर स्वर-झङ्। कार जग का।'

झपताल

यह दस मात्राओ की ताल है। इसके भी कई गीत इसमें है—

'अनगिनित आ गये शरण मे जन जननि,
सुरभि-सुमनावली खुली मधुऋतु अवनि।'

—इमे ह्रस्व-दीर्घ के अनुसार पढने पर ताल का सत्य-रूप स्पष्ट हो जायगा। खडी बोली के आधुनिक कवियों ने इस छन्द की रचना नही की। अगर की है, तो मैंने देखी नही। इसका मात्रा-विभाजन—

'अनगिनित आ गये।
शरण में जन, जननि।
सुरभि सुमनावली।
खुली मधुऋतु अवनि।'—

जिस तरह गानेवाले धम्मार को रूपक और रूपक को धम्मार मे गा सकते है, उसी तरह झपताल के गवैये इसे शूल मे भी बाँध सकते है। झपताल मे आघात इस प्रकार आयेंगे-—

† | |
"अ न गि नि त आ-–ग ये—"

और शूल मे इस प्रकार—

* | | |
"अ न गि नि त आ—ग ये—"

चौताल

इसमे बारह मात्राएँ होती हैं। इसकी भी कई रचनाएँ इसमे हैं—

"अमरण भर वरण - गान
वन - वन उपवन - उपवन
जागी छवि, खुले प्राण।
वसन विमल तन - वल्कल
पृथु उर सुर-पल्लव-दल,
उज्ज्वल दृग कलि कल, पल
निश्चल, कर रही ध्यान!"

हर लडी मे बारह मात्राएँ हैं। कही भी घट-बढ़ नही। गायक आसानी से ताल-विभाजन कर लेगा। वह इसे देखते ही इसका स्वरूप पहचान जायगा।

तीन ताल

इसमें सोलह मात्राएँ होती हैं। लोगों मे सोलह मात्रावाली चीजों का अधिक

प्रचलन है; इसलिए इस ताल की रचनाएँ इसमें अधिक हैं—

"आओ मधुर-सरण मानसि, मन।
नूपुर - चरण - रणन जीवन नित
बंकिम चितवन चित - चारु मरण !"

या—

'मुझे स्नेह क्या मिल न सकेगा ?
स्तब्ध दग्ध मेरे मरु का तरु
क्या करुणाकर, खिल न सकेगा ?"

कहीं-कहीं सोलह मात्रावाली रचना मे भिन्न प्रकार रक्खा गया है। गायक के लिए अड़चन न होगी। न पढ़नेवाले पाठको के लिए होगी; पर जो पाठक ताल के जानकार नहीं, वे 'सम' ठीक रखकर गा न सकेंगे।

दादरा

इसमें छ: मात्राओ की ताल है। इसके अनेक रूप पुस्तक में है; ठेठ हिन्दी-दादरा के गवैये भ्रम मे पड सकते हैं। यों तो खड़ी बोली के गाने ही वे नही गा सकते, अगर वह खड़ी बोली कुछ या काफी हद तक पडी हुई नही, फिर जहाँ खड़ी बोली स्वयम् अग्रगामिनी नहीं—भाव की पश्चाद्वर्त्तिनी है, वहाँ तो गवैयो की जबान को सख्त परेशानी होगी।

—"सखि, वसन्त आया।
भरा हर्ष वन के मन
नवोत्कर्ष छाया।
किसलय - वसना नव-वय-लतिका
मिली मधुर प्रिय-उर तरु-पतिका,
मधुप - वृन्द बन्दी—
पिक-स्वर नभ सरसाया।"

इसका छ: मात्राओं में विभाजन—

सखि वसन्त। आया—।
भरा हर्ष। वन के मन।
नवोत्कर्ष। छाया—।
किसलय - वस। ना नव - वय। लतिका—।
मिली मधुर। प्रिय-उर-तरु—। पतिका—।
मधुप वृन्द। बन्दी, पिक।
स्वर-नभ सर। साया—।

छ: का विभाजन है। अन्त की चार मात्राओं को स्वर के बढाने से छ: मात्रा-काल मिलेगा।

एक और—

"अपने सुख-स्वप्न से खिली
वृन्त की कली।

उसके मृदु उर से
प्रिय अपने मधुपुर के
देख पड़े तारों के सुर-से;
विकच स्वप्न-नयनों से मिली फिर मिली,
वह वृन्त की कली।"

विभाजन—

"अपने सुख। स्वप्न से खि। ली—।
वृन्त की क। ली—।
उसके मृदु। उर से प्रिय।
अपने मधु। पुर के—
देख पड़े। तारों के। सुर से—।
विकच स्वप्न। नयनों से। मिली फिर मि। ली—वह।
वृन्त की क। ली—"

'ली' के बाद बाकी मात्राएँ स्वर-विस्तार से पूरी होती हैं। अन्त मे एक जगह 'ली' के साथ 'वह' आ गया है। वहाँ 'ली' की दो मात्राएँ स्वर से और दो मात्राएँ लेती है; बाकी दो 'वह' में आ जाती हैं; यो 'ली—' दो मात्राओं की होती हुई भी ऊपर छः मात्राएँ पूरी करती है, यानी चार मात्राएँ स्वर के विस्तार से आती हैं। बाकी छः का विभाजन पूरा है, स्वर घटता-बढ़ता नही। जहाँ, बीच में, घट-बढ़ होना बुरा माना जाता है, वहाँ, बाद को, कला।

आड़ा-चौताल जैसी कुछ तालें नहीं आ पायीं। इनकी पूर्ति, समय मिला, तो मैं फिर करूँगा। गीतों पर राग-रागिनी का उल्लेख मैंने नही किया। कारण, गीत हर एक राग-रागिनी में गाया जा सकता है। जो लोग राग-रागिनी की सामयिकता का विचार रखते हैं, वे गीत के भाव को समझकर समयानुकूल राग-रागिनी मे बांध सकेंगे, रचना के समय इधर मैंने यथेष्ट ध्यान रक्खा था। कुछ गीत समय के दायरे से बाहर हैं। उनके लिए गायक का उचित निर्णय आवश्यक होगा। उनके भाव किस-किस राग-रागिनी में अच्छी अभिव्यक्ति पायेंगे, यह मैंने गायक की समझ पर छोड़ दिया है।

पर यह निश्चय है कि ब्रजभाषा के पद गानेवालो के लिए साफ उच्चारण के साथ इन गीतों का गाना असम्भव है। वे इतने मार्जित नही हो सके। अपनी अमित्र कविता की तरह अपने गीतों के लिए भी मैं इधर-उधर सुन चुका था कि ये गीत गाये नही जा सकते; पर मैं उन न-गा-सकनेवाले गायकों की अक्षमता का कारण पहले से ही समझ चुका था। उनमें कुछ आधुनिक विद्यार्थी भी थे। मैं खड़ी बोली मे जिस उच्चारण-संगीत के भीतर से जीवन की प्रतिष्ठा का स्वप्न देखता आया हूँ, वह ब्रजभाषा में नही। ब्रजभाषा के पदों के गानेवाले उस्ताद, प्राचीन उत्तरी संगीत-स्कूल के कलावन्त, जिन्हें खड़ी बोली का बहुत साधारण ज्ञान है, मेरे गीत गा न सकेंगे, यह मैं जानता था और इस ज्ञान के आधार पर गीतों की स्वर-लिपि मैं स्वयम् करना चाहता था; पर कुछ ऐसी परिस्थिति मेरी रही कि सब तरफ से अभाव-ही-अभाव का सामना मुझे करना पड़ा। एक अच्छे हारमोनियम की

गुंजाइश भी मेरे लिए नहीं हुई। मेरी सरस्वती संगीत में भी मुक्त रहना चाहती है, सोचकर मैं चुप हो गया। आदरणीय बाबू मैथिलीशरणजी गुप्त, वरेण्य बाबू जयशंकरजी 'प्रसाद', मान्य श्रीमान् रायकृष्णदासजी, सम्भ्रान्त मित्र दुलारेलालजी भार्गव और श्रेष्ठ साहित्यक पं. नन्ददुलारेजी वाजपेयी-जैसे हिन्दी के कलाकारों की आज्ञा से, कभी-कभी मुक्त-कण्ठ होकर और कभी हारमोनियम लेकर इनमें से कुछ-कुछ गीत मैंने गाकर सुनाये हैं। इनके स्वर उन्ही तक परिमित हैं। चूँकि मैं बाजार का नही बन सका, शायद इसीलिए सरस्वती ने मेरे स्वरों का बाजारू नहीं बनने दिया।

गीतों में कहीं-कहीं मैंने परिवर्तन किया है। दो-एक जगह यह परिवर्तन एक प्रकार आमूल हो गया है। गीतिका का 37वाँ गीत पाक्षिक 'जागरण' में इस प्रकार छपा था—

"आओ उर के नव पुष्पों पर
हे जीवन के कर कोमल तर।
खुल गये नयन, प्रस्फुट यौवन,
भर गया वनों में भ्रम-गुञ्जन,
चंचल लहरों पर भर नर्तन
आओ समीर, आशा हर हर!
यह क्षणिक काल यों बह न जाय,
अभिलषित अधूरी रह न जाय,
प्रिय, विरह तुम्हारा, सह न जाय,
भर दो चुम्बन नव-स्मृति-सुखकर!
मैं जगज्जलधि की वृन्तहीन
खुल रही एक कलिका नवीन,
हे विमुख, सदा मैं मुखर, पीन,
आओ अपत्रिका के मर्मर!"

पं. वाचस्पतिजी पाठक-जैसे मेरे काव्य से समधिक प्रेम करनेवाले कुछ साहित्यिकों को गीत का यह रूप अधिक पसन्द है। इस प्रकार मेरे कुछ परिवर्तन उन्हें रुचिकर नही हुए, कुछ से वे बहुत प्रीत हैं।

खड़ी बोली में नये गीतों के भी प्रथम सृष्टिकर्ता 'प्रसाद'जी हैं। उनके नाटकों में अनेक प्रकार के नये गीत हैं। मैंने 1927-28 ई. मे 'प्रसाद'जी का पूरा साहित्य देखा था। उनके अत्यन्त सुन्दर पद—

'चढ़कर मेरे जीवन-रथ पर
प्रलय चल रहा अपने पथ पर,
मैंने निज दुर्बल पद-बल पर
उससे हारी-होड़ लगायी!'

का मैं कई जगह उद्धरण दे चुका हूँ। गुप्तजी के भी अनेक गीत मैंने कण्ठस्थ किये थे।—

'सभी दशाओं में सदैव हे पर-हित-हेतु-शरीर, प्रणाम !'—मुझे अभी नहीं भूला।

मेरे विद्वान् मित्र पं. नन्ददुलारेजी वाजपेयी इन गीतों मे प्रीत होकर साधारण जनों के सुभीते के विचार से गीतों के क्लिष्ट शब्दों के अर्थ दे रहे हैं, एतदर्थ मैं उनका कृतज्ञ हूँ।

—'निराला'

4. 'गीतिका' का समर्पण

गीतिका

जिसकी हिन्दी के प्रकाश से, प्रथम परिचय के समय, मैं आँखें नही मिला सका—लजाकर हिन्दी की शिक्षा के सकल्प से, कुछ काल बाद देश से विदेश, पिता के पास चला गया था और उस हिन्दी-हीन प्रान्त में, बिना शिक्षक के, 'सरस्वती' की प्रतियाँ लेकर, पद-साधना की और हिन्दी सीखी थी; जिसका स्वर गुरुजन, परिजन और पुरजनों की सम्मति में मेरे (संगीत) स्वर को परास्त करता था; जिसकी मैत्री की दृष्टि क्षण-मात्र मे मेरी रुक्षता को देखकर मुस्करा देती थी; जिसने अन्त मे अदृश्य होकर मुझसे मेरी पूर्ण-परिणीता की तरह मिलकर मेरे जड हाथ को अपने चेतन हाथ से उठाकर दिव्य शृंगार की पूर्ति की, उस सुदक्षिणा स्वर्गीया प्रियाप्रकृति

श्रीमती मनोहरादेवी को

सादर।

—निराला

काशी
27-7-36

5. द्वितीय 'अनामिका' का समर्पण

स्वर्गीय
समादर्श मित्रवर
'मतवाला'-सम्पादक
बाबू महादेवप्रसादजी सेठ
की
पुण्यस्मृति
में

उन्हीं का—"निराला"

6. द्वितीय 'अनामिका' की भूमिका

प्राक्कथन

'अनामिका' नाम की पुस्तिका मेरी रचनाओ का पहला संग्रह है। आदरणीय मित्र स्वर्गीय श्री बाबू महादेवप्रसादजी सेठ ने प्रकाशित की थी। वे मेरी रचनाओ के पहले प्रशंसक हैं। तब मेरी कृतियाँ पत्र-पत्रिकाओ से प्रायः वापस आती थी। मैं भी उदास और निराश हो गया था। महादेव बाबू विद्वान् व्यक्ति थे; साथ-साथ तेजस्वी और उदार। यद्यपि उनमे मेरा परिचय मेरे समन्वय-सम्पादन-काल मे हुआ, फिर भी वैदान्तिक साहित्य से खीचकर हिन्दी मे परिचित और प्रगतिशील मुझे उन्होने किया, अपना 'मतवाला' निकालकर। मेरा उपनाम 'निराला' 'मतवाला' के ही अनुप्रास पर आया था। अस्तु, उस 'अनामिका' की अच्छी कृतियाँ बाद के 'परिमल' नाम के सग्रह मे आ गयी थी, अधूरी निकाल दी गयी थीं। इस 'अनामिका' मे उसका कोई चिह्न अवशिष्ट नही। यह नामकरण मैंने सिर्फ इसलिए किया है कि इसे उन्हें ही उनकी स्मृति मे समर्पित करूँ। उनकी तारीफ मे मैंने जब-जब कलम उठाया है, लेखनी रुक गयी है। वे मुझे कितना चाहते थे, इसका उल्लेख असम्भव है; और यह ध्रुव-सत्य कि वे न होते तो 'निराला' भी न आया होता।

लखनऊ
20 12-37

श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी

1. 'तुलसीदास' का समर्पण

1

आदरणीय अग्रज
पण्डित श्री श्रीनारायणजी चतुर्वेदी महोदय
के
कर-कमलों में
साहित्य-स्नेह-स्मृति-रूप
तुलसीदास

—निराला